विचार
चिंतन
शोध सृजन

ISSN : 2455-4219

आलोचन दृष्टि

Aalochan Drishti

An International Peer Reviewed Refereed
Research Journal of Humanities

वर्ष : 08 अंक : 33 जुलाई - सितम्बर, 2023

प्रधान-संपादक
डॉ० सुनील कुमार मानस

संपादक
डॉ० योगेश कुमार तिवारी

प्रबंध-संपादक
डॉ० सुधीर कुमार तिवारी

आलोचन दृष्टि वर्ष-8 अंक-33 जुलाई - सितम्बर, 2023 ISSN : 2455-4219

ISSN : 2455-4219

आलोचन दृष्टि

Aalochan Drishti

An International Peer Reviewed Refereed Research Journal of Humanities

वर्ष - 08	अंक - 33	जुलाई-सितम्बर, 2023
Year - 08	**Volume - 33**	**July-September, 2023**

प्रधान-संपादक

डॉ. सुनील कुमार मानस

संपादक

डॉ. योगेश कुमार तिवारी

प्रबंध-संपादक

डॉ. सुधीर कुमार तिवारी

© **प्रकाशक :**

संपादकीय/प्रकाशकीय पता :–

सृजनश्री न्यास,

आजाद नगर, बिन्दकी, जनपद–फतेहपुर,

उ0प्र0–212635

ई–मेल : aalochan.p@gmail.com

मुद्रण :– जय ग्राफिक्स एण्ड कान्सट्रक्सन,
आई0टी0आई0 रोड़, फतेहपुर–212601।

सदस्यता शुल्क	एक अंक	वार्षिक	आजीवन
व्यक्तिगत	300	1200	10,000
संस्थागत	400	1500	15,000

संरक्षक एवं सलाहकार मंडल

- **प्रो. गिरीश्वर मिश्र,** शिक्षाविद् एवं पूर्व कुलपति, म. गां. अं. हिं. वि., वर्धा (महाराष्ट्र)।
- **प्रो. चितरंजन मिश्र,** पूर्व प्रोफेसर, पं. दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय (उ0प्र0)।
- **प्रो. नंदकिशोर आचार्य,** सुथारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर, राजस्थान–252028।
- **प्रो. सदानंद गुप्त,** निदेशक, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, (उ.प्र.)।
- **प्रो. कृपाशंकर चौबे,** महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, (महाराष्ट्र)।
- **प्रो. माधवेन्द्र पाण्डेय,** हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग, मेघालय।
- **प्रो. प्रेमशंकर त्रिपाठी,** आशीर्वाद अपार्टमेन्ट, सी. ए. 5/10, देशबन्धु नगर, कलकत्ता।
- **प्रो. दिलीप सिंह,** इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (म.प्र.)।
- **प्रो. आर0 एस0 सर्राजू,** हैदराबाद विश्वविद्यालय (तेलंगाना)।
- **प्रो. उमापति दीक्षित,** केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा (उ0प्र0)।
- **प्रो. एस0 वी0 एस0 एस0 नारायण राजू,** तमिलनाडु केन्द्रीय विश्वविद्यालय, तमिलनाडु।
- **Shri. Tejendra Sharma,** Harrow & Weealdstone, Middlesex HA3 7AN (U.K.)
- **Mrs. Archana Painyuly,** Islevhusvej, 72 B, 2700, Bronshoj, Copenhagen, Denmark.

संपादक-मंडल

- **डॉ. उदयन मिश्र,** हरिश्चन्द्र पी. जी. कॉलेज, वाराणसी, (उ. प्र.)।
- **डॉ. बलराम शुक्ल,** संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- **डॉ. शशिभूषण भट्ट,** संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, (उ. प्र.)।
- **डॉ. दण्डिभोट्ला नागेश्वर राव,** सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, श्री चंदशेखरेंद्र सरस्वती विश्वविद्यालय, एनातूर–कांचीपुरम्, तमिलनाडु।
- **डॉ. आनंद कुमार,** राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हमीरपुर, (उ. प्र.)।
- **डॉ. अमित दूबे,** आर्य महिला पी. जी. वाराणसी।
- **श्रीमती आकांक्षा अग्निहोत्री,** सरदार पटेल विश्वविद्यालय, बल्लभ विद्यानगर, आनंद–गुजरात।
- **डॉ. वर्षा तिवारी,** पं. शम्भूनाथ शुक्ल विश्वविद्यालय, शहडोल–(म. प्र.)।

विधि-परामर्शदाता

श्री **उमाशंकर त्रिपाठी** (एडवोकेट), सिविल कोर्ट, फतेहपुर उ0प्र0–212601।

नोट : सभी पद अवैतनिक एवं अव्यावसायिक हैं। प्रकाशित शोध–लेखों एवं उसमें दिये गये उद्धरणों के वाद–विवाद संबंधी किसी भी कार्यवाही का शोधकर्ता (लेखक) स्वयं जिम्मेदार होगा। इस तरह के किसी भी विवाद में संपादक, प्रकाशक एवं 'आलोचन दृष्टि' परिवार के किसी भी सदस्य की कोई जवाबदेही नहीं होगी। किसी भी प्रकार के विवाद–संवाद का समाधान फतेहपुर न्यायालय में ही होगा।

संपादकीय

जिस समय और संवेदना के दौर से हम गुजर रहे हैं– उसके कई रूप हैं, कई रंग हैं, कई आकार–प्रकार भी हैं, किंतु उसका ध्येय एक ही है– आर्थिक उन्नति। एक कहावत, जो बहु–प्रचलित है– **'फूट डालो, राज करो'**, अब इस कहावत के नाक और नक़्शे पूरी तरह से बदल गए हैं। काम पहले जितना वह सीधे–सीधे लट्ठमार अंदाज में करती थी, उससे हटकर वह अब बहुत ही शातिर तरीके से अपना काम निकालने लगी है और इसकी पूरी अवधारणा सीधे–सीधे अब व्यापार में बदल गई है, जैसे कोई व्यापारी बड़ी–बड़ी और मीठी–मीठी बातें बनाकर या करके– अपना लाभ या नफा कमा़ लेता है, वैसे ही **'राज करना'** भी– मुनाफा या लाभ कमा़ने का रूपांतरण हो गया है।

20वीं सद़ी के अंतिम दशक की सबसे बड़ी विडंबना भी यही रही है कि **हर चीज आर्थिक लाभ कमाने या प्राप्त करने** पर ही केंद्रित हो गयी है। **ऐन–केन प्रकारेण** आर्थिक लाभ होना ही चाहिए, वह चाहे जैसे भी क्यों न हो? ऐसा नहीं है इसके पहले के लोग– लाभ कमाने की पहल नहीं करते थे, करते थे, पर मर्यादाओं या सीमाओं में रहकर।

अगर हम देखें तो इंग्लैंड की क्रांति के बाद यह सारी मर्यादाएं धीरे–धीरे टूटती हुई– नजर आती हैं। सारी मानवीय व्यवस्थाएँ या संस्थाएँ भी– एक नया बिकाऊ 'माल' (वस्तु) के रूप में ही स्वीकृत हो गयी हैं। नई का महिमा मंडन और पुरानी का नजरअंदाज– हमारे युग का मुहावरा बन गया है। हम पुराने को– पिछड़ा मानने लगे हैं। हम यह भूल जाते हैं कि– पुराने का अस्तित्व हमारी परंपरागत–जड़ों से जुड़ा हुआ है। इन जड़ों से विच्छिन्न होना– सिर्फ भटकना ही– रह जाता है। शायद्, हम आज भटक ही रहे हैं– नए–नए किस्म के शोध और अनुसंधान से– जिसका न कोई ठौर है, न कोई ठिकाना। सिर्फ अंधेरें में तीर चलाना है– लग गया तो तो वाह–वाह, नहीं तो गए। मजे कि़ बात यह है कि इस व्यापारिक मानसिकता ने– पिछले 2–3 दशकों से– हम पर इतना प्रभाव जमा दिया है कि हम समझ ही नहीं पाते कि हम सभी इसके शिकार हो रहे हैं। समस्या भी यही कि हम इस बात को मानने के लिए तैयार ही नहीं है कि हमारा लगातार शारीरिक, मानसिक, आर्थिक शोषण/शिकार हो रहा है और इस तरह से हो रहा है कि– दोहरा लाभ कमाया जा सके। पहले अपने उत्पाद से कोई **कारण** पैदा करो और उस **कारण** का **निवारण**। उनके ये कारण और निवारण– दोनों उनके लिये लाभ–केंद्रित ही होते हैं। इस समस्या से जितना सुलझने की कोशिश करो– उतना ही उलझते जाना है। सच में, आज निराकरण कहीं नहीं दिखाई देता। सब कुछ व्यापारिक दृष्टि से ही देखा, सुना और समझा जाता है।

वस्तुओं का व्यापार हमेशा से होता रहा है, और होना भी चाहिए, किंतु मूल्यों का, मानवता का, आदर्शों का, चरित्र का, नैतिकता का– भी व्यापार जोरों से चल पड़ा है, और इन सबका व्यापार करने वाला स्वयं ही हद दर्जे का अमानवीय, आदर्शहीन, चरित्रहीन और पूरी तरह से अनैतिक होते हुए भी सदाचरण के मापदंडों और मूल्यों का– सबसे बड़ा व्यापारी है। मज़े कि बात यह है कि यह व्यापार **दिन दूना, रात चौगुना** फल–फूल रहा है और हम समझ भी नहीं पा रहे हैं।

इस तरह से हम ये कह सकते हैं कि जिस समय में हम जी रहे हैं या रह रहे हैं– उसमें सब कुछ व्यापार में तब्दील हो चुका है या तब्दील होने के मुँहाने में खड़ा है। राजनीति, धर्म, शिक्षा, संस्कृति, परंपरा आदि भी– इसी व्यापार में के रंग में पूरी तरह से रंग गए हैं, या रंगें जा रहे हैं। सारी नौकरशाही, राजशाही सब पूरी तरह से व्यापार में तब्दील हो चुके हैं। सबका मतलब लाभ कमाना ही रह गया है। इसी के चलते हर व्यक्ति के अन्दर एक नवीन व्यवस्था घर करती जा रही है कि क.ख.ग. को इतना भेंट चढ़ाओ और अपना काम निकालकर– धन कमाओं। ऐसे में लगभग सभी लोगों ने अपना स्वाभिमान खो दिया है या खो

देने के मुँहाने पर खड़ें हैं। जो इक्के–दुक्के ईमानदारी से चलने वाले बचे–कूचे लोग हैं, उनकी मुश्किलें बढ़ती जा रहीं हैं। प्रायः ऐसे लोगों को अब– एक अजूबे की तरह देखा जाता है, और उन पर लगातार व्यंग्यात्मक (Satire) फबत्तियाँ कसी जाती हैं।.... बातें बहुत हैं, पर फिर कभी....।

1 सितंबर, 2023 को हमने हिंदी के एक बड़े समीक्षक **प्रो. रमेश कुंतल मेघ** को हमेशा के लिए खो दिया है, जिसकी कमी हिंदी प्रेमियों को हमेशा खलेगी। **मेघ**जी का जैसा नाम था, वैसा ही काम था। हमेशा छत्रछाया बनाने की कोशिश तो करते रहे किन्तु मेघ की तरह कहीं ठहर नहीं पाये। उनकी स्थिरता नहीं बन पायी।... **आलोचन–दृष्टि–परिवार** की ओर से हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि उनकी दिवंगत आत्मा को शांति प्रदान करें और उनके **दुःख–संतप्त–परिवार** को– इस दुख से उबरने की शक्ति भी। उनके इस शोक संतप्तता पर हमने उनके कुछ प्रियजनों की दी हुई श्रद्धांजलियों को संकलित करके संपादन भी किया है, जो पत्रिका के अंत में छपा है।

आलोचन–दृष्टि पत्रिका को लेकर एक **ऑनलाइन फ्रॉड** भी चल रहा है। फ्रॉड का लिंक : **https://ejahan.org/** और ईमेल : **submitadj@gmail.com** है। सभी से निवेदन है कि उपरोक्त लिंक और ईमेल से **आलोचन दृष्टि** पत्रिका का किसी भी तरह का कोई संबंध या लेना–देना नहीं है, और न ही उपरोक्त लिंक में छपे हुए शोध–लेखों आदि की कोई जिम्मेदारी। हम उसके खिलाफ कार्यवाही भी कर रहे है। विश्वास है ज़ल्द ही इसका निस्तारण भी होगा। अगर किसी को **आलोचन–दृष्टि** के विषय में कोई जानकारी लेनी हो तो पत्रिका में छपे ईमेल के माध्यम से प्राप्त भी कर सकते हैं।

आलोचन दृष्टि पत्रिका **सृजनश्री न्यास** नामक संस्था द्वारा निकाली जा रही है। इस संस्था को कहीं से कोई अनुदान नहीं मिल पा रहा है। लेखकों एवं संपादकों के शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक सहयोग से ही– यह पत्रिका संस्था द्वारा निकल रही है। अस्तु, आपका आर्थिक अंशदान पत्रिका के निकलने के लिए आवश्यक है। इसका मतलब यह नहीं है कि इससे **आलोचन दृष्टि** परिवार का कोई भी सदस्य इससे आर्थिक लाभ प्राप्त कर रहा है। आप पत्रिका के लेख–संग्रह से लेकर संपादन, प्रकाशन एवं प्रेषण तक की प्रक्रिया के समस्त सोपानों को जोड़कर देख ले तो स्वयं अनुमान लगा लेंगे कि एक पत्रिका के निकालने में कम से कम कितना खर्च लगता होगा? महात्मा गांधी ने कभी कहा था कि– 'सच्ची पत्रकारिता तभी संभव है जब वह जनता के पैसों से निकाली जाय।...' आप सबके सहयोग से ही– चाहे वह वैचारिक हो या आर्थिक हो– संस्था चल रही है। हाँ, यदि कहीं से कोई अंशदान इसे निकालने के लिए मिल जायेगा, तो जरूर पत्रिका को– निशुल्क कर दिया जाएगा, किंतु जब तक नहीं है, तब तक आपका सहयोग (आर्थिक अंशदान) हमारे लिए उतना ही अभिष्ट है, जितना आपके द्वारा प्रेषित लेख या शोध–लेख।

उपरोक्त पत्रिका का यह अंक कुल 22 शीर्षकों में प्रकाशित हो रहा है, जिसमें हिंदी–भाषा के 18 शोध–पत्र एवं 1 (एक) **मेघजी** को दी गयी श्रद्धांजलियों का संकलन, अंग्रेजी–भाषा के 2 शोध–पत्र और संस्कृत–भाषा का– 1 (एक) शोध–पत्र शामिल किया गया है। सभी शोध–पत्र या लेख अपने–अपने क्षेत्र के विद्वानों की महनीय अभिव्यक्तियाँ हैं। कमलाकांत त्रिपाठी जी के 'सनातन 'धर्म' की केंद्रीय–विडम्बना' लेख 1–4 भाग इसके पहले वाले अंक में प्रकाशित हो गये थे, शेष 5–8 भाग इस अंक में प्रकाशित हो रहे हैं।

इस अंक के संपादन हेतु 'आलोचन–दृष्टि परिवार' को सादर आभार ज्ञापित करता हूँ, जिनके सहयोग और सहकार से ही– पत्रिका का यह अंक अपना कलेवर ग्रहण कर रहा है। साथ ही, पाठकों–लेखकों के स्नेह एवं लगाव के प्रति भी, मैं कृतज्ञ हूँ। शेष....

30 सितम्बर, 2023।

विषयानुक्रमणिका

- संपादकीय iii-iv
- विषयानुक्रमणिका v-vi

1. पुराण-भाषा 1-2
   डॉ. राजेन्द्ररंजन चतुर्वेदी
2. सनातन 'धर्म' की केंद्रीय-विडम्बना (भाग-5 से 8 तक) 3-21
   कमलाकांत त्रिपाठी
3. अभिनय और दृश्य योजना का सफल प्रयोग 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की....' 22-24
   प्रो. एस. वी. एस. एस. नारायण राजू
4. दयानंद सरस्वती की नारी शिक्षा सम्बन्धी अवधारणा 25-28
   आकांक्षा अग्निहोत्री
5. गोस्वामी तुलसीदास के काव्य में संगीतात्मकता 29-32
   छविन्दर कुमार
6. 'हद-बेहद' उपन्यास में देह से परे उपस्थित प्रेम की अभिव्यक्ति 33-37
   डॉ. अमित कुमार
7. मृणाल पाण्डे की कहानी 'लड़कियाँ' : हाशिये के स्त्री समाज का दस्तावेज़ 38-40
   प्रो. निर्मला ढैला बोरा
8. 'पद्मावती समय' : काव्य सौंदर्य एवं चरित्र-चित्रण 41-44
   डॉ. तेजपाल सिंह
9. पंकज सुबीर की कहानी 'हमेशा देर कर देता हूँ मैं' (यथार्थ और यथार्थ से परे) 45-50
   दिनेश कुमार पाल
10. महिला किन्नर की यातना का दस्तावेज़ : 'द डार्केस्ट डेस्टिनी' 51-54
    डॉ. सनोज पी. आर.
11. भूमण्डलीकरण का यथार्थ और चित्रा मुद्गल का कथा-साहित्य 55-58
    प्रखर
12. महिला साहित्यकारों का हिन्दी साहित्य के विकास में अवदान (आदिकाल से...) 59-63
    डॉ. राकेश कुमार
13. हमारे वर्तमान का भूत और भविष्य से सम्बन्ध (कर्म-सिद्धान्त के विशेष संदर्भ में) 64-68
    डॉ. ऋषिका वर्मा

14. विश्वविद्यालय स्तर पर छात्राओं में विधिक जागरूकता का अध्ययन 69-72
पूजा बिष्ट

15. अम्बेडकर के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में हिन्दी दलित साहित्य 73-76
डॉ. संदीप कुमार पाण्डेय

16. शैलकृत गुहावास्तु एवं मूर्तिकला खोडरी, जिला अनूपपुर (म.प्र) 77-80
डॉ. हीरा सिंह गोंड

17. भारत में बालिका शिक्षा का अवलोकन (ऐतिहासिक परिपेक्ष्य से वर्तमान तक) 81-86
डॉ. कीर्ति सिंह

18. साहित्यदर्पणानुसारं पञ्चाननतर्करत्नविरचिते अमरमङ्गले नान्दीविमर्शः 87-89
श्यामसुन्दरः सर्दारः

19. **Cultural Encounters and Motifs of Social Reforms : Karsandas Mulji's...** 90-96
Dr. Divyeshkumar D. Bhatt

20. **Yoga and Health : A Review** 97-99
Dr. Avijit Mandal

21. लो, एक और आलोचक चला सफेद चादर ओढ़कर 100-110
डॉ. सुनील कुमार मानस

ꕥ★ꕥ

पुराण-भाषा

डॉ. राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी*

राजा बलि के संबंध में कल एक पोस्ट लिखी थी। उस पर किसी मित्र ने एक टिप्पणी लिखी थी– "मनगढ़न्त पौराणिक गप।" सामान्यतः इस प्रकार का परिवेश बन गया है कि मिडिल–मैट्रिक वाला मामूली पढ़ा–लिखा आदमी भी पुराण के संबंध में ऐसी ही बात कह देता है और कुछ ऐसी शान से कहता है कि यह कहने के बाद अब उसने वैज्ञानिक–दृष्टि प्राप्त कर ली है और अब वह प्रगतिशील बनने वाली पंक्ति में आ गया है।

इसके बहुत से कारण हैं, जिनमें एक बड़ा कारण यह भी है कि पुराण को इतिहास का सच मान लिया जाता है और पुराण–भाषा को आधुनिक–भाषा समझ लिया जाता है और सामान्य शब्दार्थ की प्रक्रिया से पुराण की बात को श्रद्धा–पूर्वक स्वीकार कर लिया जाता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि मिथक इतिहास की रचना है, किंतु मिथक इतिहास नहीं है। दूसरी बातमोटिफ इंडेक्स (अभिप्राय अनुक्रमणिका) बनी ही नहीं, जब कि वह मिथक के लिए एबीसीडी है, जैसे– आकाशवाणी है, शाप और वरदान है। सीता का धरती से जन्म लेना, धरती में समा जाना, यज्ञ का फल खाकर दशरथ की रानियों के गर्भ होना, रावण के दस सिर होना, नाभि में अमृतकुंड, पसीने की बूंद, कान के मैल, अग्निकुंड, घट, फल आदि से जन्म होना, कुंड में नहाने से स्त्री का पुरुष बन जाना, वृद्ध का युवा बन जाना, अक्षय–पात्र होना। अगस्त्यमुनि का समुद्र का आचमन कर जाना, कल्पवृक्ष। ये मोटिफ हैं, बिम्ब, मिथकीय भाषा की वर्णमाला।

पुराण आधुनिक–काव्य नहीं है, वह इतना पुराना है कि हम उसके लिखित रूप के काल का तो अनुमान कर सकते हैं किन्तु वाचिक–परंपरा का काल–निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई पक्का आधार है ही नहीं, पुराण का विकास वाचिक–परंपरा में हुआ है और प्रत्येक देश–काल में उसने अपना कायाकल्प किया है।

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सोचते हैं कि पुराण अंधविश्वास के स्रोत हैं और उनको समाप्त कर देना चाहिये। ऐसे लोग मनुष्य के अवचेतन–मन, समष्टि–अवचेतनमन से परिचित नहीं हैं, वे नहीं समझ सकते कि यह जातीय–मानस है और इसे समाप्त करना ऐसी असंभव कल्पना है, जैसे कोई कहे कि हिमालय से बहने वाले किसी जल–प्रवाह को बन्द कर दो या रोक दो। भारतीय जन का पीढ़ी दर पीढ़ी जीवन उन पुराणगाथाओं के साथ व्यतीत हुआ है, वे स्मृतियां उसके अचेतन मन की तहों में बैठी हुई हैं। वास्तव में मनुष्य को समझने के लिए पुराण अत्यन्त मूल्यवान अध्ययन–सामग्री है। फ्रायड और जुंग के सिद्धान्त पुराण–विद्या के अध्ययन का ही परिणाम थे। भाषाविदों ने पुराण–भाषा का अध्ययन किया है। यह तो ठीक है कि भाषा की रचना बिंबों के आधार पर ही होती है, पुराण–भाषा का आधार भी बिंब हैं और आधुनिक–भाषा का आधार भी बिंब ही हैं किन्तु पुराण–भाषा के बिंब और आधुनिक–भाषा के बिंबों में जमीन–आसमान का अन्तर है।

मिथक अपने आप में अभिव्यक्ति की शैली है। पौराणिक गाथाओं की इस अभिव्यक्ति–शैली तथा भाषा पर पश्चिम में सबसे पहले मैक्समूलर (१८२३–१६००) का ध्यान गया था। उसने अनुभव किया कि आदिम–व्यक्ति ने जिस अर्थ में उस अभिव्यक्ति–भंगिमा का प्रयोग किया था, अगली पीढी ने उसे ठीक उसी अर्थ में ग्रहण नहीं किया। इस प्रकार पीढियों के क्रम से भाषा में विकार आता चला गया तथा वह मूल अर्थ हम से दूर होता चला गया। भाषाशास्त्री जानते हैं कि शब्द– बिंब से बनता है। परिवेश के बदलने पर बिंब का अर्थ भी बदल जाता है, इसीलिए एक पीढी के बाद दूसरी पीढ़ी में जाकर शब्द का मूल अर्थ बदल जाता है। मैक्समूलर ने माना कि भाषा और अभिव्यक्ति–शैली का पीढियों के क्रम से बहुत गहरा संबंध है। अर्थ–परिवर्तन की इस प्रक्रिया को मैक्समूलर ने मैलेडी आफ़ वड्र्स अथवा शब्द का विकार बतलाया था। वीरता पौरुष तथा हिंसक पशुओं को पराजित कर देने की सामर्थ्य को उन्होंने हरक्यूलिस या सैमसन का नाम दिया। ये प्रयोग आज भी होते हैं, बहुभोजनी को भीम, बहुत सोने वाले को कुंभकर्ण और कभी खतम न होने वाले किस्से को द्रोपदी का चीरकह

***प्रख्यात चिंतक एवं लेखक, 1828, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, 13–17, पानीपत, हरियाणा– 132103।**

दिया जाता है। मैक्समूलर मिथक–तत्त्व को अनिवार्य मानते हैं।" फिलॉसफी ऑफ माइथोलॉजी, इंट्रोडक्शन टू दि साइंस ऑफ रिलिजन'" के परिशिष्ट में मैक्समूलर कहते हैं कि "यदि भाषा विचार के ऊपरी रूप को अभिव्यक्त करने की शक्ति है, तो मिथक तत्त्व उसकी अन्तर्निहित आवश्यकता है। मिथक–कल्पना वाक् तत्त्व की भाँति मनुष्य की सहज सर्जना शक्ति का ही निदर्शक रूप है।" मैक्समूलर के बाद कैसिरर मिथक–तत्त्व का विश्लेषण करते हैं। उनका कहना है कि आदिम मनुष्य के लिए भाषा के प्रतीक यथार्थ के सूचक ही नहीं थे बल्कि यथार्थ ही थे। वे मानते हैं कि मनुष्य ही एकमात्र प्राणी है जो प्रतीकों का निर्माण करता है। कैसिरर भाषा और मिथक तत्त्व को एक ही मूल से निकली हुई दो अलग–अलग शाखाएँ मानते हैं। हर्डर मानते थे कि भाषा की उत्पत्ति मिथकीय प्रक्रिया के भीतर से हुई है। मनुष्य के अन्तर्जगत को अभिव्यक्त करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम है– मिथक।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मिथक का विवेचन करते हुए कहा कि– "मिथक वस्तुतः भाषा का पूरक है। सारी भाषा ही इसके बल पर खड़ी है, साहित्य में मिथक अनंत अनुभवों का विश्लेषण है। कलाकार के हृदय में जो मिथकीय सिसृक्षा उदित होती है, वह अवचेतन चित्त की वेगवती शक्ति है। आगे चल कर यही शक्ति पुराणकथा या माइथोलोजी के रूप में विकसित होती है।"

आधुनिक विचारक मिथक को प्रतीकात्मिका भाषा कहते हैं। मनुष्य ने मिथक तत्त्व को भुलाया नहीं है, कविता उसका प्रमाण है, निजधरी कथाएँ, चित्र और मूर्ति–शिल्प उसके साक्षी हैं। कार्य–कारण परंपरा की युक्तिसंगत व्यवस्था उस गहरे यथार्थ को प्रकट नहीं कर पाती, जो रात को सोते समय सपने में प्रकट हो जाती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने मन के अद्‌भुत भावों की मिथकीय–अभिव्यक्ति का स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि "अन्तर्जगत् के भाव बाह्य–जगत् के पदार्थों के बिम्ब नहीं होते। उन भावों के बिम्ब को अभिव्यंजक शब्दों द्वारा प्रकट करना कठिन होता है, परन्तु करना पड़ता है, दूसरा उपाय नहीं है। उसको भाषा के द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए किसी–न–किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा गृहीत बिम्ब में उसे अनूदित करना पड़ता है। अमूर्त अनुभूति को किसी–न–किसी प्रकार मूर्त बिम्बों में अनुवाद करना है। रूप को 'मधुर' कहना या सौन्दर्य को लावण्य कहना वस्तुतः एक अमूर्त अनुभूति को स्वादेन्द्रिय द्वारा अनुभूत बिम्ब के माध्यम से गोचर कराने का प्रयास मात्र है। उपरले स्तर के तर्क द्वारा कहा जा सकता है कि रूपगत सुन्दरता को माधुर्य (मिठास) और लावण्य (नमकीन) कहना बिल्कुल झूठ है क्योंकि रूप न तो मीठा होता है, न नमकीन। लेकिन फिर भी कहना पड़ता है, क्योंकि अन्तर्जगत् के भावों को बहिर्जगत् की भाषा में व्यक्त करने का यही एकमात्र उपाय है। सच पूछिए तो यही मिथक तत्त्व है। ऊपर–ऊपर से देखने से यह झूठ है, परन्तु गहराई में देखने पर यह सत्य है। धर्मवीर भारती ने कहा था– मिथक–कथाएँ प्रतीकों और मधुमयी कल्पनाओं के द्वारा हजारों साल से हमारे सांस्कृतिक–मानस को संवेदना प्रदान करने का काम करती हैं। अब उनको उनके उन्हीं प्रतीकार्थ–माध्यम से समझने की आवश्यकता है।

बोआस ने कहा कि ये आदमी के बचपन की अवशिष्ट स्मृतियाँ हैं। मानव जीवन की समस्त युगयात्रा की स्मृतियाँ अवचेतन में विद्यमान हैं। पुराण–कथाएँ जातीय–जीवन की सामूहिक स्मृतियाँ हैं। यह सामूहिकता सामाजिक–जीवन की एकता की अपराजेय–शक्ति है। मिथक समष्टि–मानस की स्मृतियों के टीले की तरह है, जिनमें युगयुगीन–स्मृतियों की विभिन्न परतें सो रही हैं। मिथक केवल धरती पर घटित–घटना की ही याद नहीं है, धरती पर घटित–घटना के प्रभाव और प्रतिक्रिया में जो कुछ व्यष्टिमन और समष्टिमन में घटित हुआ, उसकी भी यादों का सूत्र है। मनुष्य के वे सभी स्वप्न, वे कल्पनाएँ वे ऐषणाएँ, वे संकल्प, वे विश्वास और वे अनुभव भी मिथकों में समाहित हैं, जो जीवन की युग–युगीन यात्रा में आये और जगे, भले ही वे ऐन्द्रिक हैं या अतीन्द्रिय। प्रो. रमेश कुन्तल मेघ ने कुछ समय पहले "मिथककथा सरित्सासागर" ग्रन्थ लिखा है। वे कहते हैं कि "मिथक मानवजाति का सामूहिक स्वप्न एवं सामूहिक अनुभव है और स्वप्न एक व्यक्ति की सुप्त आकांक्षा।"

पुराणों को लेकर भारतीय भाषाओं में सहस्रावधि काव्य, नाटक, उपन्यास लिखे गए हैं। अभिव्यक्ति पद्धति में पुराण व्याप्त हैं। मूर्तिकला, चित्रकला का अपार वैभव है, जिनका स्रोत पुराण ही हैं। संक्षेप में पुराण के बिना भारत की संस्कृति समझी नहीं जा सकेगी। लोकमानस मिथकीय भाषा में सोचता है। यदि मिथकीय भाषा का ज्ञान नहीं है तो उनके लिए लोकवार्ता भी काला आखर भैंस बराबर है।

★

सनातन 'धर्म' की केंद्रीय-विडम्बना

कमलाकांत त्रिपाठी*

अतिशय वैचारिक उदारता और अतिशय सामाजिक संकीर्णता : समाधान की तलाश

भाग–5

पहले आ चुका है कि शुंग वंश (185–72 ई.पू) और उसके परवर्ती (अल्पजीवी) कण्व वंश (73–28 ई.पू.) के शासनकाल की समाप्ति के बाद यूनानी आक्रमणकारियों के वर्चस्व से उत्तर भारत राजनीतिक अंधकार में डूब गया। यूनानियों को विस्थापित करने का कार्य किसी भारतीय राजा ने नहीं, अरल सागर के पास से आये शकों ने किया और शकों को पराभूत किया पश्चिमी चीन के यूह–ची (Yueh-chi) क़बीले के कुषाणों ने जिनका साम्राज्य भारत और उसके पश्चिम और उत्तर की सीमाओं के आरपार फैला था। पहले वे बौद्ध बने, फिर उनमें वैष्णव धर्म के प्रति भी झुकाव उत्पन्न हुआ। उनके काल में मथुरा–केंद्रित मूर्तिकला की गंधार शैली परवान चढ़ी।

उनके पूर्व आये शक विस्थापित होकर कहीं गये नहीं, देश में ही इधर–उधर बिखर गये और बाद में कुषाणों के अधीन उनके सामंत (क्षत्रप) बन गये। कुषाण साम्राज्य के कमज़ोर पड़ने पर वे लगभग स्वतंत्र हो गये और पुनः एक बड़ी ताक़त बनकर उभरे। उपरोक्त अंधकार युग का अंत हुआ मगध में गुप्तवंश के उदय से।

विन्सेंट स्मिथ के अनुमानानुसार उस समय मगध की राजधानी पाटलिपुत्र से शासन कर रहा था (महात्मा बुद्ध के समय में मशहूर) वैशाली का लिच्छवि गणतंत्र, जो वृज्जि गणसंघ का मुखिया रहा था। लिच्छवि संभवतः सुदूर पुरुषपुर (पेशावर) की राजधानी से शासन करनेवाले कुषाणों के नाममात्र के अधीनस्थ थे। पूर्व में लिच्छवियों का महात्मा बुद्ध और जैन तीर्थंकर महावीर दोनों से घनिष्ट सम्बंध उनके इतिहास को गौरवशाली बनाता था।

गुप्तवंश के संस्थापक, एक गुमनाम राजवंश के उत्तराधिकारी चंद्रगुप्त प्रथम (शा. का.320–33 ई.) के साथ लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी के विवाह ने इतिहास की धारा बदल दी। इसी के बल पर चंद्रगुप्त ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। इस विवाह का इतना महत्व था कि चंद्रगुप्त की एक स्वर्ण–मुद्रा पर उसके साथ उसकी रानी कुमारदेवी का चित्र उकेरा गया और उसे चंद्रगुप्त, कुमारदेवी और लिच्छवि राष्ट्र के संयुक्त नाम से ढलवाया गया। (चंद्रगुप्त का पुत्र दिग्विजयी समुद्रगुप्त भी अपने अभिलेखों एवं मुद्राओं में स्वयं को चंद्रगुप्त के साथ लिच्छवि–पुत्री का पुत्र बताता रहा।) चंद्रगुप्त (प्रथम) की मृत्यु तक उसका राज्य पाटलिपुत्र से साकेत और प्रयाग तक विस्तृत हो गया था।

चंद्रगुप्त (प्रथम) के पुत्र समुद्र गुप्त (330–380 ई.) की प्रसिद्ध दिग्विजय का विवरण हरिषेण द्वारा सृजित उत्कृष्ट, ललित और प्रवहमान संस्कृत में अशोक के प्रयाग स्तम्भ पर उल्लिखित है। इस दिग्विजय के बाद पूरब में ब्रह्मपुत्र, दक्षिण में नर्मदा तथा पश्चिम में गंगा घाटी में यमुना और चम्बल के संगम तक उसका सीधा शासन क़ायम हो गया। इसके अतिरिक्त पश्चिम में मालवा और पंजाब के गणतंत्र–मालव, यौधेय वगैरह– समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर सुरक्षित और स्वशासित बने रहे। सीमाप्रांत के पाँचों राज्यों– समतत (ब्रह्मपुत्र का डेल्टा), देवाक (पूर्वी बंगाल), कामरूप (आसाम) और कर्तृपुर (कुमायूँ, गढ़वाल और नेपाल)– के राजा कर और भेंट देकर स्वशासन करते रहे। नर्मदा के दक्षिण के सभी राजा उसकी प्रभुता स्वीकार कर उसे बस भेंट देते थे। पश्चिमोत्तर के कुषाण राजा और सिंहल द्वीप (श्री लंका) का राजा

---

*प्रख्यात चिंतक एवं लेखक, 40/891, कुवेम्पू नगर, हिण्डाल्गा, बेलगावी, कर्नाटक–591108।

मेघवर्ण भी समुद्रगुप्त के प्रति सम्मानपूर्ण संधि से बँधे थे और ज़रूरत पड़ने पर गुप्त दरबार को सहायता देने के लिए बाध्य थे। एक चीनी स्रोत के अनुसार सिंहलद्वीप के राजा मेघवर्ण (352—79 ई.) ने समुद्रगुप्त के दरबार में उपहारों के साथ अपना राजदूत भेजा था।

गुप्त वंश के तीसरे राजा चंद्रगुप्त विक्रमादित्य (380—415 ई.) का विशिष्ट योगदान पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपों को जीतकर मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र (काठियावाड़) को गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित करने में निहित है। इसके पहले इन क्षत्रपों को समुद्रगुप्त के साथ हुई संधि के तहत सुरक्षा प्राप्त थी। किंतु ये बहुत दुष्ट थे। वस्तुतः ये नाममात्र के लिये ही सही, कुषाणों के सामंत बने रहे जिनका राज्य भारत में अब सिंध के पश्चिमी तट तक सीमित हो गया था।

एक अपुष्ट स्रोत के अनुसार, जिसमें विशाखदत्त का ऐतिहासिक नाटक **देवीचंद्रगुप्तम्** प्रमुख है, चंद्रगुप्त के पहले, थोड़े समय के लिये उसके बड़े भाई राम गुप्त ने शासन किया। **देवीचंद्रगुप्तम्** अब उपलब्ध नहीं है किंतु अन्य कृतियों में उसके उद्धरणों से जो सूचना मिलती है, वह अन्य स्रोतों से भी पुष्ट होती है। राम गुप्त क्लीव और कमज़ोर चरित्र का व्यक्ति था। उसकी पत्नी ध्रुवदेवी (ध्रुवस्वामिनी) विख्यात सुंदरी के साथ गुणशील—सम्पन्न और व्यवहार—कुशल भी थी। रामगुप्त शकों के साथ युद्ध में शक क्षत्रप (संभवतः रुद्रसिम्ह) के द्वारा बंदी बना लिया गया। उसे छोड़ने के लिये क्षत्रप ने ध्रुवस्वामिनी को समर्पित करने की शर्त रखी जिसके लिए भीरु स्वभाव का रामगुप्त अंततः सहमत हो गया। किंतु उसके छोटे भाई स्वाभिमानी चंद्रगुप्त के लिए और ध्रुवस्वामिनी के लिए भी, यह गुप्त वंश के गौरव पर भीषण कलंक था, ध्रुवस्वानिनी की अस्मिता और उसके व्यक्तित्व का क्रूर हनन था। लिहाज़ा, चंद्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी के छद्मवेश में रुद्रसिम्ह के खेमे में प्रवेश कर उसकी हत्या करने और रामगुप्त को मुक्त कराने में सफल रहा। तदुपरांत विवादास्पद परिस्थितियों में चंद्रगुप्त द्वारा रामगुप्त की हत्या और ध्रुवस्वामिनी के साथ उसके विवाह का साक्ष्य मिलता है। वह गुप्त साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना और उसने (पहली शताब्दी ई. पू. में उज्जयिनी से शासन करनेवाले प्रतापी राजा) विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। ध्रुवस्वामिनी ही चंद्रगुप्त के पुत्र और उत्तराधिकारी कुमार गुप्त की माँ बनी। जयशंकर प्रसाद ने भी हिंदी में 'ध्रुवस्वामिनी' शीर्षक से एक चर्चित नाटक लिखा है जिसमें उसे प्राचीन भारत में नारी—शक्ति और नारी—अस्मिता के प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

शकों के विरुद्ध चंद्रगुप्त का अभियान कई वर्षों तक चला और उसकी पूर्ण विजय तथा शकों के समूल उच्छेद के साथ समाप्त हुआ। चंद्रगुप्त ने 'शकारि' की उपाधि धारण की और इसकी यादगार में एक मुद्रा भी चलाई।

शक—शक्ति के उच्छेद से उज्जैन की महत्वपूर्ण मंडी और भरूच, सोपारा, कैम्बे जैसे पश्चिमी तट के बंदरगाह गुप्तों के आधिपत्य में आ गये। फलस्वरूप, यूरोप से संपूर्ण भारत का निर्यात—बहुल व्यापार रेशम और मसाले के थलमार्ग से कुस्तुंतुनिया की मंडी पहुँचने के अतिरिक्त, समुद्रमार्ग से लालसागर होकर अलेक्ज़ेंड्रिया की मंडी भी पहुँचने लगा। इससे देश की समृद्धि बढ़ी और शांतिकाल में कला और संस्कृति के विभिन्न घटकों के उन्नयन से गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल बन सका।

चंद्रगुप्त (द्वितीय) के राज्य में आई शांति और स्थिरता उसके पुत्र कुमार गुप्त के सुदीर्घ शासनकाल (415—455) और कुमार गुप्त के पुत्र स्कंद गुप्त के शासन काल (455—467) तक बनी रही। किंतु स्कंदगुप्त का शासन प्रारम्भ होते ही मध्य एशिया में एक नई शक्ति के रूप में उभरे, दुर्धर्ष हूण क़बीलों का भारत पर आक्रमण शुरू हो गया जिनकी बाढ़ रोकने में स्कंद गुप्त तो सफल रहा किंतु उसकी मृत्यु के बाद हूणों द्वारा बार—बार किये गये हमलों के कारण गुप्त साम्राज्य की शक्ति और विस्तार का लगातार ह्रास होता रहा। मध्य युग के औरंगज़ेब की तरह स्कंदगुप्त भी महान गुप्तों का अंतिम शासक साबित हुआ। उसके बाद गुप्त वंश क़ायम तो रहा किंतु उसके शासक छोटे गुप्त थे जिनका राज्य निरंतर सिकुड़ता गया। इनमें से बुधगुप्त के समय (499 ई.) तक गुप्त वंश की रेखा भंग नहीं हुई किंतु उसके बाद गुप्त उपनाम से कई छिटपुट राजा हर्षवर्धन के शासनकाल (606—647 ई.) के बाद भी, आठवीं शताब्दी तक मिलते हैं।

संयोग की बात है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के शासनकाल में भारत आये चीनी यात्री फाहिआन के विवरणों से हमें गुप्तकाल के प्रशासन और उसके सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश का एक व्यापक और तटस्थ ख़ाक़ा उपलब्ध है। उसकी यात्रा का लक्ष्य धार्मिक था और ये विवरण आनुषंगिक रूप से आये हैं, इसलिए इनकी प्रामाणिकता संदेह से परे है। फाहियान ने गोबी रेगिस्तान और पामीर पहाड़ के दुस्तर मार्ग से की गई भारत–यात्रा में अपने जीवन के कुल 15 वर्ष (399–414 ई.) लगा दिये। इस यात्रा का लक्ष्य महायान बौद्ध ग्रंथों, ख़ासकर विनय–पिटक की प्रामाणिक प्रति खोजना था। तीन साल वह गुप्त राजाओं की राजधानी पाटलिपुत्र में रहा और तीन साल गुप्त साम्राज्य के इलाक़ों में घूमा।... इसके बाद ही वह ताम्रलिप्ति (आज के तामलुक, ज़िला मिदनापुर से साठ कि. मी. दूर) बंदरगाह से सीलोन और जावा होते हुए चीन वापस गया।

फाहियान लिखता है– मगध के शहर विशाल हैं और उनके निवासी सम्पन्न एवं खुशहाल। धर्मादा संस्थाओं की बहुतायत है। राजमार्गों पर यात्रियों के लिये जगह–जगह विश्रामघर बने हुये हैं। राजधानी (पाटलिपुत्र) में धनी–मानी और सुशिक्षित लोगों द्वारा स्थापित और चलाया जानेवाला एक उच्च कोटि का ख़ैराती अस्पताल है। पाटलिपुत्र एक समृद्ध और उन्नतिशील शहर है, इसमें दो बौद्ध मठ हैं– एक महायान और एक हीनयान। इनमें 600–700 श्रमण रहते हैं जो अपनी विद्वत्ता के लिए इतने प्रसिद्ध हैं कि सभी स्थानों के विद्यार्थी उनके व्याख्यान सुनने आते हैं। सिंधु–तट से यमुना–तट पर स्थित मथुरा तक की लगभग 800 कि. मी. की यात्रा में फाहियान को बौद्ध मठों की एक अटूट शृंखला दिखाई पड़ी थी। अकेले मथुरा में 20 मठ थे, जिनमें 3000 लोग रहते थे।

फाहियान ने गुप्तकालीन प्रशासन के बारे में लिखा– 'प्रशासन नरम है। लोग बिना किसी अनुमति–पत्र के और बिना कहीं नाम दर्ज कराये, जहाँ चाहें, जाने–आने के लिये स्वतंत्र हैं। अधिकांश अपराधों का दंड जुर्माने के रूप में होता है, मृत्युदंड कभी नहीं दिया जाता, अंगभंग (केवल दाहिना हाथ काटना) पेशेवर और अदम्य डाकुओं, लुटेरों के लिए सुरक्षित है। पूरे देश में कोई किसी जीव की हत्या नहीं करता, मद्य नहीं पीता, लहसुन–प्याज नहीं खाता... कोई सुअर या चिड़ियाँ नहीं पालता, क़स्बों और बाज़ारों में पशुओं की बिक्री नहीं होती, बधिक (कसाई) की दुकानें नहीं पाई जातीं, न ही मद्य बनाने की भट्टियाँ मिलती हैं।'

द्रष्टव्य है कि फाहियान को चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन में बौद्ध धर्म और भागवत धर्म में परस्पर किसी विद्वेष या बौद्धों के प्रति किसी तरह के भेदभाव का आभास तक नहीं हुआ। न ही जाति–प्रथा और अस्पृश्यता की विषमता और ऊँच–नीच का आभास हुआ। निश्चय ही परवर्ती मध्यकाल में प्रशासनिक और धार्मिक कर्मकांड के अवसरों की कमी होने पर जातिप्रथा का विकट रूप सामने आया होगा। प्राचीन भारत में 'भंगी' जाति का कहीं उल्लेख तक नहीं मिलता, न ही कहीं शौचालयों का संदर्भ आता है। बस्तियों से लगे हुए जंगल ज़रूर रहे होंगे किंतु नगरों और ख़ासकर राज–प्रासादों में? यह एक गुत्थी–नुमा प्रश्न है जिस पर कोई शोध हुआ हो तो मेरी जानकारी में नहीं है।

फाहियान ने एकमात्र चांडालों का ज़िक्र अस्पृश्य के रूप में किया है। उसके अनुसार चांडाल वे थे जो शुद्धता और सफ़ाई के नियमों का पालन नहीं करते थे। वह उन्हें स्पष्टतः जन्मना नहीं बताता। चांडालों को नगरों, क़स्बों और बाज़ारों से अलग रहना पड़ता था और उनमें घुसते समय ज़मीन पर डंडा ठोंकते हुए आवाज़ करनी पड़ती थी, जिससे अन्य लोग उनके संपर्क से दूषित न हों। स्मृतियाँ चांडालों को ब्राह्मण स्त्री और शूद्र पुरुष के प्रतिलोम सम्बंध से उत्पन्न बताती हैं। अर्थात् जन्मना। स्मृतियों के विधानों का सामाजिक व्यवहार के इतिहास में मिलना केवल अपवाद–स्वरूप है।

उपरोक्त से और अन्य स्रोतों से भी स्पष्ट है कि गुप्त राजा पारिवारिक स्तर पर भले विष्णु–पूजक (भागवत) रहे हों, उनके शासन में सामाजिक स्तर पर बौद्धों और जैनों को धार्मिक कृत्यों और विश्वासों तथा मंदिरों और अन्य धार्मिक संस्थाओं एवं प्रतीक–स्थलों के निर्माण और संचालन की पूर्ण स्वतंत्रता थी। फाहियान ने गुप्त काल में बौद्ध धर्म के मूल्य पर सनातन धर्म के (बहुचर्चित) पुनरुत्थान का कोई उल्लेख

नहीं किया है। फाहियान के लिए चंदगुप्त द्वितीय के काल में भी भारत–भूमि बौद्धों की पवित्र भूमि थी जिसमें बौद्ध धर्म का पालन अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में उपलब्ध था।

यहाँ तक कि कुषाण राजा कनिष्क और हुविष्क तक का बौद्धधर्म की प्रति बहुचर्चित झुकाव भी मात्र सतही था। वे जरथुस्त्र और मजूसी पहले थे, बौद्ध बाद में। एक कुषाण उत्तराधिकारी वसुदेव प्रथम के सिक्के पर तो शिव और नंदी की आकृति उत्कीर्ण है, ठीक वैसी ही जैसे कनिष्क के पूर्ववर्ती कुषाण राजा कदफिस द्वितीय के सिक्के पर है। कुषाणों के क्षत्रप शक तो ब्राह्मण धर्म के अनुयायी बन ही गये थे।

गुप्तवंश के पतन का कारण हूणों का आक्रमण था। मध्य एशिया के घास के मैदानों से आनेवाले घुमक्कड़ क़बीलाई आक्रमणकारियों में सबसे अधिक बर्बर हूण थे। उन्होंने भारत और फ़ारस (ईरान) पर एक साथ आक्रमण किया। आ चुका है कि 455 ई. में हूणों के पहले आक्रमण के समय अंतिम ('बड़े') गुप्त सम्राट स्कंद गुप्त ने उन्हें हराकर भारत से बाहर कर दिया था। 467 ई. में स्कंद गुप्त की मृत्यु हो गई। 484 ई. में हूणों ने फ़ारस के सासैनी (Sassanian) सम्राट फ़ीरोज़ की हत्या कर दी और सासैनी साम्राज्य तथा काबुल पर क़ब्ज़ा कर लिया। फ़ारस के सासानी साम्राज्य के पतन ने हूणों के लिए भारत का प्लावन–द्वार खोल दिया और वे अदमनीय संख्या में भारत की ओर उमड़ पड़े। उनके एक नेता तोरमाण ने मालवा में 500 ई. में अपने को स्थापित किया। तोरमाण का पुत्र मिहिरगुल अपनी भारतीय राजधानी शाकल (स्यालकोट) ले गया। वस्तुतः हूण साम्राज्य की केंद्रीय राजधानी बामयान के पास थी और हूण साम्राज्य पश्चिम में फ़ारस से पूर्व में खोतान तक फैला हुआ था; भारत उसके 40 प्रांतों में केवल एक था।

भारत पर मिहिरगुल की सत्ता का ध्वंस करने का कार्य किया मालवा के राजा यशोधर्मन और मगध के गुप्तवंशीय राजा बालादित्य ने, 528 ई. में। किंतु बर्बर हूणों ने उत्तरी और पश्चिमी भारत के गुप्तकालीन राजनीतिक और सामाजिक तानेबाने को ध्वस्त ही कर दिया। वहाँ कई छोटे–छोटे राज्य खड़े हो गये जो आपस में युद्धरत रहे।

छठी शताब्दी के अंतिम चरण में कन्नौज के मौखरियों ने गुप्त राजा को मगध से बेदख़ल कर दिया, जिसके बाद गुप्त राजा ने संभवतः मालवा में शरण ली और वहाँ अपना छोटा–सा राज्य क़ायम किया। कन्नौज का अंतिम मौखरि राजा ग्रहवर्मन था जिसकी मालवा के 'दुष्ट' राजा देवगुप्त (?) द्वारा हत्या किये जाने पर यह राज्य उसकी संतानहीन पत्नी राज्यश्री और सामंतों के आग्रह पर, थानेसर के राजा, राज्यश्री के भाई हर्षवर्धन को सँभालना पड़ा। कुछ ही दिनों बाद हर्ष ने थानेसर को छोड़कर कन्नौज को संयुक्त राज्य की राजधानी बना लिया।

प्राचीन इतिहास में हर्षवर्धन उत्तर भारत का अंतिम महान शासक (606–647 ई.) है। उसके जीवन और शासन के बारे में एक अन्य चीनी यात्री हुएन सांग के यात्रा–विवरणों के अतिरिक्त हर्ष के घुमक्कड़ मित्र और उत्कृष्ट साहित्यकार बाण की रचना हर्षचरित से भी पर्याप्त सामग्री मिलती है। हर्ष को बहुत विषम परिस्थियों में महज़ 16–17 साल की उम्र में दोनों राज्यों का दायित्व सँभालना पड़ा था। पाँच वर्ष तक वह लगातार पड़ोसी राजाओं से युद्ध करता रहा। इसके फलस्वरूप पंजाब को छोड़कर, बंगाल–सहित समस्त उत्तर भारत तथा नर्मदा–पर्यंत मध्यभारत उसके राज्य में शामिल हो गये। वलभी (सौराष्ट्र) और कामरूप (आसाम) पर भी उसका आधिराज्य स्थापित हो गया। उसने 550 ई. के आसपास नर्मदा पारकर चालुक्य राजा पुलकेशिन द्वितीय पर भी आक्रमण किया किंतु वही एक युद्ध था जिसमें वह पराजित हुआ और नर्मदा को उसे अपने राज्य की दक्षिणी सीमा स्वीकार करनी पड़ी।

कुलधर्म से हर्ष शैव था किंतु वह सूर्य का भी उपासक था। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में वह बौद्ध बन गया और राज्य में जीवों की हत्या पर रोक लगा दी। हर्ष ने हुएन सांग के सम्मान में कन्नौज में एक धर्मसभा आयोजित की जिसमें उसके 20 अधीनस्थ राजा शामिल हुए। धर्मसभा समाप्त होने के बाद हुएन सांग को हर्ष अपने साथ प्रयाग ले गया जहाँ दूसरी धर्मसभा आयोजित थी। वहाँ उसने हज़ारों पवित्र ब्राह्मणों, जैनों एवं बौद्धों को प्रभूत दान दिया। सभा के पहले दिन महात्मा बुद्ध की मूर्ति को सर्वोच्च सम्मान

दिया गया। दूसरे दिन सूर्य और तीसरे दिन शिव की पूजा सम्पन्न हुई। 643 ई. में सम्पन्न हुई, प्रयाग की यह छठी धर्मसभा थी; हर पाँचवें वर्ष हर्षवर्धन राज्य की बचत का बड़ा अंशदान करने प्रयाग जाया करता था।

जब भी गुप्त राजाओं के ब्राह्मण धर्म के उन्नयन या पुनरुत्थान तथा हर्षवर्धन की बौद्ध धर्म की पक्षधरता का नैरेटिव प्रस्तुत किया जाता है, उसका तात्त्विक अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि गुप्त राजाओं ने इसे बौद्ध धर्म के मूल्य पर या हर्षवर्धन ने ब्राह्मण धर्म के मूल्य पर किया। अशोक और पुष्यमित्र शुंग सहित किसी भी भारतीय धर्म को माननेवाले शासक द्वारा यहाँ प्रचलित किसी भी भारतीय धर्म के साथ भेदभाव का कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता, धार्मिक उत्पीड़न तो दूर की बात है। वह शुद्ध गढंत है जिसे इतिहासेतर कारणों और इतिहासेतर लक्ष्यों से गढ़ा गया है। इसी तरह स्मृतियों में जातीय ऊंच–नीच और अमानवीय शोषण का जो क्रूर, अमानवीय चित्र मिलता है, प्राचीन भारत के इतिहास में यथार्थ के धरातल पर उसका वह विकराल रूप कहीं नहीं दिखता। उसके बाद, मध्ययुग में क्या और कैसे हुआ? यह शुद्ध अकादमिक और बौद्धिक क़वायद का विषय है, राजनीतिक विचारधारा, जातीय अस्मिता या धार्मिक विमर्श का नहीं।

भाग–6

निःसंतान हर्ष की मृत्यु (647 ई.) के बाद भारतीय इतिहास की धारा में इस क़दर विचलन हुआ कि वहीं से मध्य युग की शुरुआत मानी जाती है और मध्य युग के आरम्भिक संक्रमण काल को 'राजपूत काल' कहा जाता है। ये राजपूत या राजपुत्र कौन थे? जिन्हें संप्रति ठाकुर या क्षत्रिय या देशी भाषा में छत्री भी कहा जाता है? इस सम्बंध में विंसेंट स्मिथ के विचार द्रष्टव्य हैं– "सामाजिक समूह के रूप में 'राजपूत' संज्ञा का सम्बंध किसी नस्ल या कुल के रक्त विशेष से नहीं है। यह लड़ाकू आदतों वाला एक समुदाय था जिसके सदस्य स्वयं को अभिजात कोटि का मानते थे और जिसे ब्राह्मणों द्वारा प्राचीन ग्रंथों के क्षत्रिय के रूप में स्वीकार किया जाता था। यह एक विशाल समूह था जिसमें विभिन्न कुल–जातियों के लोग शामिल थे। कई कुल विदेशी थे जो पाँचवीं और छठी शताब्दी में भारत आये थे। कई ऐसी स्वदेशी कुल–जातियों के लोग भी थे जिन्हें अब (विंसेंट स्मिथ के समय : 1843–1920 में) निचली जातियाँ माना जाता है। संभवतः यह कहना सुरक्षित होगा कि राजस्थान के सबसे प्रतिष्ठित माने जाने वाले राजपूत मुख्यतः विदेशियों के वंशज हैं, जिन्हें टॉड ने सीथियन (मूलतः मध्य एशियाई घास के मैदानों के घुमक्कड़ तातार) कहा है। आक्रमणकारी हूण, गुर्जर, मैत्रक आदि के उच्च श्रेणी के लोग राजपूत कुलों में अंतरित हो गये जब कि निम्न श्रेणी के लोगों से हिंदुओं की कम सम्मानित सामाजिक स्थिति वाली जातियाँ, जैसे गूजर, आहीर, जाट वगैरह विकसित हुईं। विदेशी मूल की कुल–जातियों में मेवाड़ के स्वाभिमानी और उदार–चेता सिसोदिया (या गहलोत) के अतिरिक्त प्रतिहार (या परिहार), चौहान (या चाहमान), पवार या परमार और सोलंकी (जिन्हें दक्षिण में चालुक्य कहा गया) शामिल हैं। दक्कन के राष्ट्रकूट जो स्थानीय भाषांतर के चलते राजस्थान के राठौर हैं और बुंदेलखंड के चंदेल व बुंदेल स्थानीय जातियों के अभिजातीकरण के उदाहरण हैं। चंदेल संभवतः गोंड समुदाय से थे जो भरों के साथ भी निकटता से जुड़े हुए थे। इस विषय का दूर तक अनुगमन करना असंभव है, इसके अनगिनत उदाहरण दिये जा सकते हैं।" {मूल अंग्रेजी से अनुवाद, The OÛford History of India, OÛford University Press, 1982, pp. 190–191}

विंसेंट स्मिथ ने मेवाड़ के राणाओं की उत्पत्ति के संदर्भ में प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डी. आर. भंडारकर (1975–1950) के मत का उल्लेख करते हुये पाद–टिप्पणी में लिखा है– यदि आधुनिक शोधों से उद्घाटित तथ्य किसी तबक़े को तिरस्कारपूर्ण लगते हैं तो यह खेदजनक है, किंतु, जैसा कि अशोक ने कहा था, 'सत्य अवश्य कहा जाना चाहिये।'

1981 में प्रगति प्रकाशन, मास्को से प्रकाशित 'भारत का इतिहास : संक्षिप्त रूपरेखा' (नरेश वेदी और ददन उपाध्याय द्वारा हिंदी में अनूदित) के सोवियत इतिहासकार, को. अ. अंतोनोवा, द्वारा लिखित अंश में उपरोक्त से मिलता–जुलता मत व्यक्त हुआ है– "हूण आक्रमण के समय भारत आकर यहाँ बस जाने वाले

क़बीलों ने देश के आगामी इतिहास के दौर पर गहरा प्रभाव डाला। कुछ हूण क़बीले उत्तर–पश्चिमी भारत में बस गये और वहाँ के रहनेवालों के साथ उनका अंतःमिश्रण हुआ। इन्हीं क़बीलों के साथ गुर्जर भी आये जो पंजाब, सिंध और राजपूताना में बस गये– इनमें से कुछ बाद में मालवा और देश के उस भाग तक भी जा पहुँचे, जो कालांतर में उन्हीं के नाम से गुजरात कहलाया। हूणों तथा गुर्जरों एवं स्थानीय आबादी में घनिष्ठ संपर्कों और अंतर्विवाहों के परिणामस्वरूप एक नया जातीय समूह पैदा हुआ जो बाद में राजपूत के नाम से विज्ञात हुआ।" (पृ. 240–41)

विंसेंट स्मिथ के अनुसार राजपूतों में देश की निचली मानी जानेवाली जातियों के अतिरिक्त ब्राह्मण भी सम्मिलित हुए। ब्राह्मण अमूमन ज्ञानार्जन करनेवाली जाति थी और क्षत्रिय योद्धा–समूहों की, किंतु दोनों के बीच स्पष्ट और अनुल्लंघनीय दीवार नहीं थी। कभी पेशे में परिवर्तन तो कभी वैवाहिक सम्बंध से परस्पर अंतरण होता रहता था। प्राचीन शुंग और कण्व वंशीय राजा ब्राह्मण थे। प्रभावशाली ब्राह्मण प्रायः मंत्री होते थे किंतु कभी–कभी ऐसे ब्राह्मण शासन–सूत्र भी सँभाल लेते थे। सातवीं शताब्दी में भारत–यात्रा पर आये हुएन सांग ने उज्जैन, झिझोटी और बुंदेलखंड में कई ब्राह्मण राजाओं का उल्लेख किया है। जब ब्राह्मण किसी राजवंश की नींव डालता था तो उसके वंशज प्रायः क्षत्रिय परिवारों में विवाह करते थे और कालांतर में क्षत्रियों में ही सम्मिलित हो जाते थे। वस्तुतः ब्राह्मणों में भी भिन्न–भिन्न समुदायों के लोग शामिल थे। नागर ब्राह्मण संभवतः किसी विदेशी समूह के पुरोहित थे। मग ब्राह्मण संभवतः ईरानी मूल के मगी थे। ब्राह्मण से क्षत्रिय बनने के संक्रमण काल में उन्हें ब्राह्मण–क्षत्री कहा जाता था। इस संज्ञा का प्रयोग कई राजवंशों, जैसे बंगाल के सेन और मेवाड़ के सिसोदियों के लिये, हुआ है। इस तरह हूण आक्रमण और उसके बहुआयामी परिणामों से भारतीय परंपरा की कड़ियाँ टूट गईं। स्मिथ के समय में उपलब्ध राजवंशों की वंशावलियाँ आठवीं शताब्दी के पीछे नहीं जाती थीं और कुछ ही ऐसी थीं जो इस शताब्दी तक भी पहुँचती थीं।

जेम्स टॉड (1782–1835) राजपूताने में ईस्ट इंडिया कम्पनी के पोलिटिकल एजेंट, फिर रेज़िडेंट के तौर पर मेवाड़, कोटा, सिरोही, बूँदी, मारवाड़ और जैसलमेर रियासतों पर नज़र रखने के लिए नियुक्त किये गये थे। मेवाड़ में अपने 5 वर्षों (1818–1823) के निवास के दौरान उन्होंने राजस्थान की कठिन जलवायु और कठिन भूप्रदेश की परवाह न कर, लगातार यात्रायें करते हुए, प्राप्त अभिलेखों, सिक्कों, टूटे–फूटे मंदिरों और जैन मुनियों से प्राप्त दस्तावेज़ों, चारणों की विरुदावलियों और सभी वर्ग के लोगों के साथ किये गये वार्तालाप में सुने गये विवरणों के आधार पर 'Annals and Antiquities of Rajasthan' शीर्षक से राजपूतों का विस्तृत इतिहास लिखा। इसमें दो राय नहीं कि लेखक की दृष्टि राजपूतों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण है और उनके लेखन में राजपूती राष्ट्रवाद का जो स्वर उभरता है उसे रोमानी राष्ट्रवाद कहा जा सकता है, जिससे कम्पनी के अधिकारी तक नाख़ुश थे। किंतु टॉड ने जिस राजपूती राष्ट्रवाद की उद्भावना दी उससे भारत के, विशेषकर 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, राष्ट्रवादी लेखकों को ब्रिटिश–शासन के विरुद्ध आवाज़ उठाने की जबरदस्त प्रेरणा मिली। ज्योतीन्द्रनाथ टैगोर की रचना 'सरोजिनी बा चित्तौड़', गिरीशचंद्र घोष की रचना 'आनंद रहो', रंगलाल बनर्जी की कृति 'पद्मिनी उपाख्यान' (1858) और माइकेल मधुसूदन दत्त की कृति 'कृष्णा कुमारी' (1861) टॉड के लेखन से विशेष रूप से अनुप्राणित रहे।

रूपा एंड कम्पनी, नई दिल्ली ने 1997 में टॉड की उपरोक्त पुस्तक दो खंडों में प्रकाशित की, जिसका चौथा संस्करण 2005 में निकला। इस पुस्तक का एक सरसरी पाठ भी टॉड के अप्रतिम अध्यवसाय और उनकी निष्ठा पर मुहर लगाता है, भले ही एक अपरिपक्व इतिहासकार के रूप में उनसे कुछ त्रुटियाँ हुई हों। राजपूतों का महिमामंडन (यदि उसे महिमामंडन कहा जा सके) के पीछे टॉड की यह धारणा भी हो सकती है कि राजपूत सीथियन (तातार) नस्ल के लोग थे और टॉड के अनुसार उसी नस्ल के लोग यूरोप में भी जाकर बस गये थे जो स्कॉटिश टॉड के पूर्वज थे। इंडोआर्यन के उसी पुराने सिद्धांत की पुनर्रचना जो वैदिक काल की उपलब्धियों की व्याख्या के लिये उपनिवेशवादी इतिहासकारों द्वारा गढ़ा गया था और इस तरह आर्यों की 'श्रेष्ठता' को यूरोपियन श्रेष्ठता से जोड़कर आत्माश्वस्ति का साधन जुटाया गया था।

जेम्स टॉड ने राजपूतों में प्रचलित अग्निकुंड आख्यान को ऐतिहसिकता प्रदान करने का यथाशक्य प्रयास किया है। उन्होंने पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व (484–425 ई.पू.) के यूनानी इतिहासकार हरोडुटस (Herodotus) की इस स्थापना का सहारा लिया कि सीथियन नस्ल के लोगों में आठ राजन्य शाखाएँ थीं। मालवा में परमार वंश के शासन के दौरान 10वीं शताब्दी के एक कवि पद्मगुप्त ने अपनी कृति 'नवशशांकचरित' में अग्निवंशी क्षत्रियों का उल्लेख किया है और परमारों को अग्निवंशी बताया है। अग्निवंश प्राचीन ग्रंथों में वर्णित क्षत्रियों के सूर्यवंश और चंद्रवंश के समांतर मान लिया गया। राजपूत राजाओं के चारण इस आख्यान का विस्तार कर क्षत्रियों के आठ कुलों का वर्णन करते थ–सूर्य, सोम (चंद्र), हय (अश्व) निमि, और अग्निवंश के चार कुल (परमार, प्रतिहार, सोलंकी या चालुक्य तथा चौहान)। इन्हीं को टॉड ने हरोडुटस की आठ सीथियन शाखाओं से जोड़ दिया।

टॉड ने लिखा है– "पौराणिक आख्यानों के अनुसार, जब क्षत्रिय वर्ण में अधार्मिकता आ गई और उन्होंने ब्राह्मण योद्धा परशुराम को क्षति पहुँचाकर उन्हें क्रुद्ध कर दिया तो परशुराम ने 21 बार क्षत्रियों का विनाश कर उनके राज्य ब्राह्मणों को सौंप दिये। किंतु कुछ क्षत्रिय अपने को चारण बताकर या स्त्रियों का वेश धारण कर छिप गये। इस तरह क्षत्रियों का श्रिंग (सींग) बचा रह गया (श्रिंग ही कालांतर में सिंह हो गया?)। ये ब्राह्मण न तो कुशल योद्धा थे, न शासन करने में प्रवीण, इसलिए चारों ओर अव्यवस्था, अज्ञान और नास्तिकता छा गई। पवित्र ग्रंथ पैरों तले रौंदे जाने लगे। ऐसी स्थिति में क्षत्रिय ऋषि और ईश्वर की भुजा (अस्त्र–शस्त्र) के शिक्षक विश्वामित्र ने क्षत्रियों की पुनरुत्पत्ति के लिए एक अनुष्ठान करने का निश्चय किया। इसके लिये उन्होंने आबू पर्वत की चोटी चुनी जहाँ ऋषि–मुनि धार्मिक कृत्यों में निरंतर संलग्न रहते थे। इन ऋषियों ने उपरोक्त अव्यवस्था की शिकायत क्षीर सागर तक पहुँचा दी जहाँ सृष्टिकर्ता शेषनाग (अनंतत्व के प्रतीक) के ऊपर तैर रहे थे। सृष्टिकर्ता ने ऋषियों को क्षत्रियों की पुनरुत्पत्ति की आज्ञा दी और वे देवताओं में इंद्र, ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु को साथ लेकर आबू पर्वत लौट आये। वहाँ अग्निकुंड बनाकर उसे गंगाजल से पवित्र किया और प्रायश्चित्त के विधि–विधान सम्पन्न हुए। लम्बे विमर्श के बाद तय हुआ कि क्षत्रियों की पुनर्सृष्टि का कार्य सबसे पहले इंद्र करेंगे। इंद्र ने दूर्वा घास का एक पुतला बनाया और उस पर जीवन–जल छिड़ककर अग्निकुंड में उसकी आहुति दे दी। संजीवन मंत्र का उच्चारण करने पर अग्नि की लपटों से धीरे–धीरे एक आकृति प्रकट हुई जिसके एक हाथ में गदा थीः वह मार–मार चिल्ला रही थी। उसी को परमार कहा गया और उसे आबू, धार और उज्जैन के इलाक़े सौंप दिये गये। ब्रह्मा की आहुति पर एक हाथ में खड्ग, दूसरे में वेद लिये हुए और गले में जनेऊ पहने हुए जो आकृति प्रकट हुई उसे चालुक्य (सोलंकी) का नाम देकर अनहिलपुर पाटन (गुजरात) का इलाक़ा दे दिया गया। इसी तरह रुद्र की आहुति से परिहार या प्रतिहार की उत्पत्ति हुई जिसे नांगल और मरुस्थल में आबाद नौ इलाक़े सौंपे गये। विष्णु की आहुति पर चतुर्भुज चौहान की उत्पत्ति हुई जिसे मकावती (?) नगरी का इलाक़ा दे दिया गया।" {Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol–2, pp. 355–56}

टॉड के अनुसार चारणों में प्रचलित अनुश्रुति यह है कि अनुष्ठान पूरा होने पर नवजात योद्धाओं को दैत्यों, असुरों, दानवों, राक्षसों और म्लेच्छों के विरुद्ध युद्ध के लिये भेजा गया जिससे उनका विनाश हुआ। उपरोक्त चार योद्धाओं से ब्राह्मणों द्वारा 36 राजपूत कुलों का सृजन हुआ जिनमें केवल अग्नि से उत्पन्न उपरोक्त चार कुल श्रेष्ठ हैं, शेष का जन्म स्त्रियों से (इन चारों के संयोग से) हुआ।

यह आख्यान टॉड ने सीथियन तातारों में प्रचलित इसी तरह के आख्यान के आधार पर राजपूतों को सीथियन नस्ल से जोड़ दिया।

राजस्थान के राजपूतों की उत्पत्ति जैसे भी हुई हो, सदियों से वे इस देश को अपना मानते हैं और यह देश उन्हें अपना मानता है। उन्हें इस देश की मिट्टी से लगाव है, इसके लिये उन्होंने कुर्बानियाँ दी हैं, उनके देशप्रेम पर कभी कोई प्रश्नचिह्न नहीं उठा। जहाँ तक नस्ल का सवाल है, पूर्व में आ चुका है कि हम सभी भारतीय मिश्रित नस्ल के लोग हैं और नस्लों का यह मिश्रण जातिप्रथा की उत्पत्ति से बहुत पहले, प्रागैतिहासिक काल में ही, सम्पन्न हो चुका था। इस नस्ली मिश्रण में देश के भिन्न–भिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में

भिन्न–भिन्न नस्लों का प्राधान्य ज़रूर है किंतु एक ही भौगोलिक क्षेत्र की सभी जातियों में एक ही नस्ल का प्राधान्य है। राजपूतों में विदेशियों के अतिरिक्त ब्राह्मण सहित अन्य हिंदू जातियों के लोग भी शामिल हैं। इस तरह राजपूतों में भी परस्पर रक्त का मिश्रण ठीक उसी तरह हुआ है जैसे अन्य जातियों में।

न केवल हिंदू, लगभग 85 % भारतीय मुसलमान भी उसी मिश्रित नस्ल के हैं, जिसके हिंदू हैं। मुसलमानों में ब्राह्मणों तथा राजपूत सामंतों से धर्मांतरित लोगों के अतिरिक्त अशरफ़ के बरअक्स जो पसमांदा या अजलफ़ तबक़ा है वह शत प्रतिशत धर्म–परिवर्तन से बना है। और यह धर्म–परिवर्तन भारत पर मुस्लिम आक्रमण के बहुत पहले, पैग़म्बर मुहम्मद के जीवनकाल में ही शुरू हो गया था। गुजरात, सिंध और मालाबार में व्यापार के सिलसिले में बसी अरब बस्तियाँ पूर्व–इस्लामिक हैं। मक्का पर पैग़म्बर की फ़तह (630 ई.) के शीघ्र बाद खजूर लादकर अरब से लौटे जहाज़ियों की मारफ़त यह ख़बर भारतीय तटों पर आबाद अरब बस्तियों में पहुँची और उनके लोगों ने अपने अरब बंधुओं का नया मज़हब न केवल स्वीकार कर लिया, मज़हबी कर्तव्य के रूप में उसके शांतिपूर्ण प्रचार में भी लग गये। जब मोहम्मद बिन कासिम ने राजा दाहिर को युद्ध में मारकर सिंध को जीता (712 ई.), वहाँ की बहुसंख्यक आबादी बौद्धों की थी जिन्होंने बिना किसी ख़ास प्रतिरोध के इस्लाम स्वीकार कर लिया। किंतु देश में व्यापक स्तर पर धर्मांतरण बारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक में दिल्ली सल्तनत क़ायम होने के बाद ही शुरू हुआ। मुसलमानों के पसमांदा या अजलफ़ तबक़े के लोग जिस इलाक़े में बसे हुये हैं, उसी इलाक़े के लोगों की नस्ल के हैं– चार नस्लों (आर्य, द्रविड, मंगोल और सीथियन) के मिश्रण जिनमें किसी एक नस्ल का प्राधान्य है।

मनुष्य में जिस तरह की अतिक्रामक यौन प्रवृत्ति है, शताब्दियो के सहजीवन से पीढ़ी–दर–पीढ़ी विवाहेतर रक्तमिश्रण को बचा पाना लगभग नामुमकिन है। जाति और धर्म भी इसके आड़े नहीं आ पाते। परिणामतः हम सभी भारतवासी एक ही मिश्रित नस्ल के लोग हैं। जहाँ तक मनुष्य के गुण–अवगुण और चरित्र का सम्बंध है, वह मूलतः जीनोम से और कुछ हद तक धार्मिक–पारिवारिक–सामाजिक परिवेश से निर्धारित होता है तथा व्यक्ति–व्यक्ति में भिन्न होता है। वैज्ञानिक शोधों से सिद्ध हो चुका है कि गुण–चरित्र का नस्ल से कोई सम्बंध नहीं।

आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण तक का भारतीय इतिहास का काल मुख्यतः राजपूत काल है। यह उत्तरी भारत पर वर्चस्व के लिए मालवा के गुर्जर–प्रतिहारों, दक्षिण के राष्ट्रकूटों और बंगाल के पाल राजाओं के त्रिकोणीय संघर्ष का काल है। मध्यभारत में यह भोज जैसे सुसंस्कृत, विद्या–प्रेमी और राजनीतिक रूप से सक्षम परमार राजाओं का काल है। दक्षिण भारत में यह चालुक्यों, पल्लवों, प्राचीन पांड्यों और महान चोलों के शासन, उनकी असाधारण आर्थिक–सांस्कृतिक उपलब्धियों एवं वास्तुकला के विशाल, भव्य एवं सुदृढ़ प्रतीक मंदिरों के निर्माण का काल है। यह भारत के समुद्री व्यापार के अपूर्व उत्कर्ष का भी काल है जिसने कंबोडिया, स्याम, बर्मा तथा जावा, सुमात्रा, बाली जैसे दक्षिण–पूर्वी द्वीपों में भारतीय व्यापारिक बस्तियाँ आबाद होने और वहाँ की सभ्यता–संस्कृति पर जैविक प्रभाव डालने का काम किया जो आज तक अमिट है। इसी काल के उत्कर्ष ने भारत को वृहत्तर भारत का रूप दिया जिसने व्यापार, कला–कौशल, जीवन–दर्शन और धार्मिक आख्यानों के माध्यम से दक्षिण–पूर्वी एशिया को भारत के अनुरूप बना दिया।

इस काल तक अवसरों के बाहुल्य ने जातिप्रथा के नकारात्मक और दमनात्मक पक्ष को प्रायः अगोचर रखा था। हर शिल्पी जाति का शिल्पीसंघ और उसकी समितियाँ होती थीं जो उसके आर्थिक हितों की रक्षा और संवर्धन करती थीं। हर जाति का व्यक्ति प्रजा के साथ–साथ राज्य का नागरिक भी था और अपनी जाति के मुखिया की मारफ़त हर नये राजा की स्वीकृति (सिंहासनारोहण) के अनेक विधि–विधानों में भाग लेता था। दिग्विजय के आरम्भ और पारंपरिक वित्तीय व सैन्य अभियानों के निर्णयों में जातियाँ अपने–अपने मुखिया की मारफ़त भाग लेती थीं। "भारतीय राजनीतिक कार्यकलापों में जातियाँ वर्जित नहीं थीं, बल्कि सक्रिय भाग लेने के कारण अंशतः उसकी अंग थीं।" {Inden, R., Imaginning India, pp-217-28 as quoted in John Keay's INDIA, Harper Collins Publishers, 2010, p- 189}।

मुस्लिम शासन का काल जाति–व्यवस्था के विशेष अधोपतन का काल है जब जातियाँ गतिहीन एवं अवरोधक बन गईं। प्रशासनिक और सैन्य नियुक्तियों में धार्मिक भेदभाव के कारण राजपूत बेरोज़गार हो गये। राजकीय एवं राजकर्मियों के धार्मिक अनुष्ठानों एवं अन्य धार्मिक आयोजनों तथा न्यायिक कार्य से वंचित ब्राह्मणों के अवसरों में भारी कमी आई। राज्यविस्तार तथा असंतुष्टों के विद्रोह को दबाने के लिए लगातार लड़े जानेवाले युद्धों ने एक उत्पीड़क कर–व्यवस्था को अनिवार्य कर दिया जिससे अन्य जातियाँ भी आर्थिक दबाव में आ गईं और उनकी प्रगति के रास्ते बाधित हुये। सभी जातियों की राजनीतिक सहभागिता समाप्त हो गई। इससे जो पराभव और वंचना–बोध हुआ, उसने जाति–व्यवस्था की सामाजिक संस्था को धर्म के कर्मफल सिद्धांत से जोड़कर, ऊंच–नीच और जातीय दुर्दशा को एक पारलौकिक आधार प्रदान कर दिया जिससे समस्त हिंदू समाज का नैतिक पतन हुआ।

उत्तर भारत में मुस्लिम शासन के प्रारम्भ (1193 ई.) से दो शताब्दी पूर्व, राजपूत काल में, महमूद ग़ज़नवी द्वारा पंजाब पर क़ब्ज़ा किये जाने (1001 ई.) के बाद, 'हिंद की दौलत' ने ही उसे 17 बार भारत पर आक्रमण करने और अकूत धन लूटकर गज़नी ले जाने के लिये प्रेरित किया था; इन लूटों की अंतिम कड़ी सोमनाथ (1026) थी। इन लूटों के बावजूद मध्यकाल में भारत की समृद्धि पर निर्णायक असर नहीं हुआ। दक्षिण में अलाउद्दीन और मलिक काफ़ूर की लूटों (1292–1307) और मुगल बादशाह मुहम्मद शाह के समय फ़ारसी लुटेरे नादिरशाह द्वारा दिल्ली की लूट (1739) के इतिहास में दर्ज पैमाने आश्चर्यचकित करने वाले हैं। पानीपत के तीसरे युद्ध (1761) में मराठों को पराजित करने के पूर्व अफ़ग़ान आक्रमणकारी अहमद शाह अब्दाली मुख्यतः लूटपाट के लक्ष्य से 4 बार भारत पर आक्रमण कर चुका था।

भारत की असाधारण समृद्धि का ही परिणाम था कि इन लूटों के बावजूद उसकी उत्पादन और निर्यात क्षमता तथा विश्व–व्यापार में उसके हिस्से पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा।

भाग–7

मध्ययुग की लूटों और लगातार चलने वाले युद्धों की देन– उत्पीड़क लगान–व्यवस्था– के बावजूद विश्व में भारत की अद्वितीय निर्यात क्षमता और तज्जनित समृद्धि क़ायम रही। लगभग तीन सहस्राब्दियों की उत्तरोत्तर आनुवंशिक कुशलता से अर्जित सर्वोन्नत हस्तकला व हस्तउद्योग तथा कृषि भूमि पर (यूरोप के सामंतों एवं भूदासों के बरअक्स) किसानों के स्वामित्व एवं विशिष्ट जलवायु के चलते कपास, रेशम, चावल, गन्ना व नील जैसे तब तक के ज्ञात विश्व के दुर्लभ उत्पादों पर भारत का वर्चस्व अक्षुण्ण बना रहा।

भारत की संस्थागत, सुव्यवस्थित लूट और उसकी उत्पादन–व्यवस्था को ध्वस्त करने का कार्य किया ईस्ट इंडिया कम्पनी ने। जाति–व्यवस्था की विषमता का तीक्ष्णतम रूप, जो देश के आज़ाद होने पर हमें विरासत में मिला, काफ़ी हद तक इसी लूट और विध्वंस का परिणाम था।

प्लासी–युद्ध (22 जून 1757) के नायक रॉबर्ट क्लाइव पर जब ब्रिटिश संसद में मुक़दमा चला (1772), उसने अपने बचाव में कहा– मैंने ऐसा कुछ नहीं किया जो कम्पनी की प्रचलित और स्वीकृत परिपाटी के अनुरूप नहीं था। आगे उसने कहा– "महोदय, मुझे तो अपने संयम पर आश्चर्य होता है, कि मैंने इतना ही क्यों लिया, मेरे सामने तो नवाब (मीर जाफ़र) का पूरा ख़ज़ाना खुला पड़ा था और मुझसे कहा गया था, जितना चाहिए, ले लीजिए।" यह हाल था 1757 में गद्दारी से बंगाल के नवाब बने मीर जाफ़र के मुर्शिदाबाद ख़ज़ाने का– मध्यकाल में विस्मयकारी पैमाने पर की गई लूटों के बाद। (क्लाइव द्वारा की गई मुकुट की 'महान और सराहनीय सेवाओं' के आधार पर उसे बरी कर दिया गया। किंतु स्वाभिमानी क्लाइव ने 22 नवम्बर 1774 को 49 वर्ष की आयु में काग़ज़ काटनेवाले चाकू से अपना गला चीरकर आत्महत्या कर ली। वस्तुतः गवर्नरी के दूसरे कार्यकाल (1765–67) में क्लाइव ने कम्पनी के मैन्डेट के अनुरूप आर्थिक सुधारों के तहत अहलकारों के देशी व्यापार और अंधाधुंध भत्तों पर रोक लगा दी थी जिससे काफ़ी लोग नाराज़ हो गये थे और उन्हीं के प्रभाव से उस पर यह महाभियोग लाया गया था। कम्पनी के कर्मचारियों, अहलकारो, यहाँ तक कि इंग्लैंड में बैठे डाइरेक्टरों में भी पाक़–साफ़ कोई नहीं था।)

ईस्ट इंडिया कम्पनी के कुत्सित मायाजाल में भारत की जकड़बंदी को समझने के लिए इतिहास में थोड़ा पीछे लौटना पड़ेगा।

तुग़लक़ वंश के अंतिम वैध शासक फ़ीरोज़ शाह की मौत (1388) पर छाई अराजकता के माहौल में तैमूरलंग का भारत आक्रमण (1398)। पाँच दिन तक दिल्ली में पीढ़ियों से संग्रहीत सम्पत्ति की भयानक लूट एवं नरसंहार के बाद तैमूर ढेर सारी औरतों और अन्य बंदियों के साथ, जितने भी कुशल वास्तुशिल्पी मिले, उन्हें लेकर, रास्ते में मेरठ और हरिद्वार को लूटता हुआ, समरकंद लौट गया था। अराजकता के माहौल पर आंशिक नियंत्रण लानेवाले चारों सैयद सुल्तानों में अंतिम अलाउद्दीन आलमशाह को अपदस्थ कर (1451) लोदी (अफ़ग़ान) वंश का पहला सुल्तान बहलोल लोदी दो साल से दिल्ली के तख़्त पर विराजमान था। उसी समय पश्चिम में एक युगांतकारी घटना घट रही थी जो कालांतर में भारत के भविष्य को अंधकारमय बनानेवाली थी।

ख़लीफ़ा–शासित अरब साम्राज्य पर उन्हीं मध्य एशियायी तुर्कों ने आक्रमण किया जिन्हें अरब की इस्लाम–उत्प्रेरित सेना ने इस्लाम में दीक्षित किया था। नये–नये मुसलमान बने तुर्क क़बीले अरब साम्राज्य की विजय पर निकल पड़े– पहले सेलजुक़, फिर मामलुक और अंत में उस्मानी (Ottomon) तुर्क। उस्मानी तुर्क एशिया से उत्तरी अफ़्रीका तक फैले पूरे अरब साम्राज्य पर आधिपत्य स्थापित करने में सफल रहे। अपने सीमित दायरे से पहली बार बाहर निकले, इस्लाम की नई ऊर्जा के आत्मविश्वास से भरे ये तुर्क अरब–साम्राज्य पर विजय के बाद पूर्वी यूरोप की ओर मुड़ गये और बाइजेंटियम (पूर्वी रोमन) साम्राज्य की राजधानी कुस्तुन्तुनिया (अब इस्तांबुल) पर घेरा डाल दिया। सात दिन की घेराबंदी के बाद बाइजेंटियम की रक्षा–पंक्ति टूट गई (29 मई 1453)। और उस्मानी तुर्क भरभराकर यूरोप में दाख़िल हो गए तथा आगे बढ़ने लगे। बाद में आस्ट्रिया की राजधानी वियना के फाटक तक पहुँचने पर ही उन्हें यूरोपीय देशों के गठबंधन द्वारा रोका जा सका (15 अक्टूबर 1529)। किंतु वियना पर उनका आक्रमण जारी रहा और उन्हें अंतिम और निर्णायक शिकस्त 12 सितम्बर 1683 को मिली जो उस्मानी साम्राज्य के ह्रास का आरम्भिक बिंदु साबित हुआ।

1453 तक कुस्तुन्तुनिया और अलेक्ज़ेंड्रिया (मिस्र) की विश्व–मंडियाँ अरब व्यापारियों के वर्चस्व में थीं, जो अब उस्मानी तुर्कों से पराजित उनके दुश्मन थे और खिलाफ़त की संस्था अभी भी दबाए बैठे थे जिस पर उस्मानी तुर्कों की गिद्ध–दृष्टि लगी हुई थी। लिहाज़ा, तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया और अलेक्ज़ेंड्रिया की मंडियाँ बंद कर दीं। ऊँटों के कारवाँ से गुलज़ार रेशम और मसाले के स्थलमार्ग सूने पड़ गये। भारत और अलेक्ज़ेन्ड्रिया के बीच व्यापार–मार्ग के समुद्री हिस्से पर तैरती अरब जहाज़ियों की व्यापारिक नौकाएँ अदृश्य हो गईं।

भारत का माल यूरोप पहुँचना बंद हुआ तो वहाँ तहलका मच गया। भारतीय और भारत से होकर पूर्वी द्वीपों से आनेवाले मसालों के बिना यूरोपियों के लिए जाड़ा बिताना मुहाल हो गया। जाड़े में बर्फ़ गिरनी शुरू होते ही वे अपने जानवरों का एक हिस्सा मारकर उनका मांस मसाले में सिझाकर (मसाले प्राकृतिक प्रिज़र्वेटिव का काम करते हैं) रख लेते थे और जाड़े भर उसी से काम चलाते थे। जाड़ा ख़त्म होने पर ही अपने जानवरों को लेकर वे पुनः चरागाहों की ओर निकलते थे और अगला जाड़ा आने तक उनकी वृद्धि करते थे। ठंड से बचने के लिए वे काली मिर्च, दालचीनी जैसे मसालों को उबालकर चाय की तरह गरम–गरम पीते भी थे। यूरोप की जलवायु में न कपास पैदा हो सकती थी, न रेशम के कीड़े पल सकते थे। सिर्फ़ ऊनी या चमड़े के वस्त्र बनते थे, जो जाड़े में प्राण–रक्षा के लिए तो ठीक, किंतु गर्मी में इस्तेमाल के लिए और सामंतों की शानोशौकत के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थे। भारतीय मलमल और भारत और चीन के रेशमी वस्त्रों के अलावा भारत से जानेवाली चीनी, चावल, नील, मोती और दुर्लभ समुद्री रत्नों के बिना दरबारों की शानोशौकत फीकी पड़ गई।

अस्तु, यूरोपियों के लिए हिंदुस्तान के समुद्री मार्ग की खोज जीने–मरने का सवाल बन गई। तब तक सुनिश्चित हो गया था कि दुनिया गोल है। इसलिए पूरब और पश्चिम दोनों ओर से हिंदुस्तान का

समुद्री मार्ग खोजने की होड़ लग गई। ब्रिटेन तब तक इंग्लैंड, स्कॉटलैंड, वेल्स और आयरलैंड के आपसी झगड़ों में फँसा, महज़ एक उभरती ताक़त था, 1588 में अजेय स्पेनी आमाडा (Spanish Armada) को इंग्लिश चैनल में हराने के बाद ही वह यूरोपीय शक्ति बनेगा। स्पेन और पुर्तगाल ही यूरोप की दो महाशक्तियाँ थीं। हिंदुस्तान का समुद्री मार्ग खोजने के लिए इन्हीं दोनों में प्रतिद्वंद्विता चली। भारत का समुद्री मार्ग खोजने के लिए पश्चिम की ओर बढ़ता स्पेन का कोलम्बस अमेरिका के एक तटवर्ती द्वीप पर पहुँच गया (12.10.1492) जिसे वह भारत का हिस्सा समझ बैठा। व्यापार के साथ–साथ स्पेन दक्षिण अमेरिका और मध्य अमेरिका में अपने उपनिवेश बनाने दौड़ पड़ा। बाद में मालूम हुआ, वह तो एक नई दुनिया है। दोनों महाशक्तियों में टकराव न हो, इसलिए पोप सिकंदर चतुर्थ ने एक पापल बुल जारी कर दुनिया को दो हिस्सों में बाँट दिया (04.05.1493) और पूरब का हिस्सा पुर्तगाल तथा पश्चिम का स्पेन के हवाले कर दिया (जैसे पोप महोदय को पूरी दुनिया पर प्रभुत्व हासिल हो)। दोनों को भारत का समुद्री मार्ग खोजना था और जो भी हिस्से मिलें उन पर अपने–अपने क़ानूनों के अनुसार राज करना था, केवल व्यापार के लिए पूरे यूरोप के ईसाई जगत् को छूट देनी थी। पुर्तगाल का वास्को डि गामा 20 मई 1498 को कालीकट पहुँचा और यही हिंदुस्तान, बल्कि एशिया के पराभव और यूरोप के उत्थान का बीज–बिंदु साबित हुआ। पहले पुर्तगाल के व्यापारी भारत आये (1600), फिर डच (1610), फिर ब्रिटिश (1611), फिर फ्रांसीसी (1667) और अंत में आये डेनमार्क–नार्वे वाले (1799)। (पांडिचेरी के उत्तर, तमिलनाडु के थरंगम्बादी क़स्बे और बंगाल के सेरामपुर में डेनिश अड्डे थे, थरंगम्बादी में समुद्रतट पर उनकी टूटी–फूटी व्यापारिक कोठी अभी भी मौजूद है।) ब्रिटिश और फ्रांसीसियों तथा ब्रिटिश और डचों के बीच भारतीय निर्यात पर एकाधिकार के लिए युद्ध हुए, अंततः ब्रिटिश विजयी रहे।

1600 में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना मुख्यतः भारत से समुद्री व्यापार करने के लिए ही हुई थी। उसी साल 11 दिसम्बर को इंग्लैंड की रानी एलिजाबेथ (प्रथम) ने एक चार्टर द्वारा कम्पनी को हिंदुस्तान और पूर्व से व्यापार के लिए एकाधिकार प्रदान कर दिया। 1614 में सर टॉमस रो ब्रिटिश संसद के सदस्य बने। रो की पहले से मशहूर राजनयिक सफलता के चलते कम्पनी ने राजा जेम्स से उन्हें हिंदुस्तान के बादशाह जहाँगीर के पास इंग्लैंड का राजदूत बनाकर भेजने की सिफ़ारिश की, जो मान ली गई। रो 1615 में आगरा पहुँचे और ढेर सारे उपहार (जिनमें लाल वाइन की कई बोतलें भी शामिल थीं) लेकर जहाँगीर के दरबार में हाज़िर हुए। वे 1615 से 1618 तक तीन साल आगरा में रहे और जहाँगीर के क़रीबी तथा हम–प्याला बनने में सफल हुए। आख़िर जहाँगीर ने कम्पनी को सूरत में व्यापारिक कोठी (गोदाम या कारख़ाना) खोलने की अनुमति दे दी। भारत के भावी दुर्भाग्य का यह दूसरा काल–बिंदु साबित हुआ। सूरत के बाद कम्पनी की व्यापारिक कोठियाँ आगरा, अहमदाबाद, भड़ौच और बड़ौदा में भी खुल गईं। बंगाल में कम्पनी की पहली कोठी खुली हुगली में (1650–51) फिर एक और कोठी कासिमबाज़ार में खुल गई। हुगली में कम्पनी के उद्धत कर्मचारियों द्वारा की गई लूटपाट से बौखलाए औरंगज़ेब के हुक्म से मुग़ल सेना ने अँग्रेजों की बस्ती उजाड़कर उन्हें समुद्र में खदेड़ दिया (1686)। दो साल बाद चटगाँव पर क़ब्ज़ा करने की उनकी कोशिश भी नाकाम कर दी गई।

कम्पनी के होशियार एजेंट जॉब चारनाक (1630–1693) ने मुग़ल हाकिमों के सामने मिन्नत करके हुगली से ग्यारह मील नीचे, दलदल से घिरे, सितनुती गाँव में नई व्यापारिक कोठी बनाने की इजाज़त माँगी। इजाज़त मांगी और दबे–दबे स्वर में कंपनी की समुद्री ताक़त की ओर इशारा भी कर दिया––इस ताक़त से कंपनी चीन और दक्षिण–पूर्व के द्वीपों से हिंदुस्तान के फलते–फूलते, फ़ायदेमंद व्यापार में अड़ंगा लगा सकती है। देश की उन्नत दस्तकारी के चलते जो उम्दा माल खपत से बहुत ज़्यादा बन रहा था, उसके निर्यात के लिए समुद्री ताक़तों से निबटने की स्थिति में मुग़ल निज़ाम नहीं था। फ़िलहाल जॉब चारनाक को सितनुती में व्यापारिक कोठी खड़ी करने की इज़ाज़त मिल गई।

दुर्भाग्य है कि मराठों और अन्य देशी ताक़तों से उलझा मुग़ल बादशाह औरंगज़ेब पश्चिम की नई उभरती समुद्री ताक़त की युगांतकारी संभावना को नहीं देख सका। उसके बरअक्स औरंगज़ेब के समकालीन

शिवाजी ने मराठा नौसेना का गठन किया था (1654) और थल सेना एवं नौसेना के समन्वय से ही सूरत बंदरगाह पर क़ब्ज़ा करने (1664) में सफल रहे थे। बड़े मुग़लों में से किसी को भी पहले के चोलों, चालुक्यों और पल्लवों की तर्ज़ पर अपना शक्तिशाली समुद्री बेड़ा खड़ा करने की नहीं सूझी, जिसे करने में वे पूर्णतः समर्थ थे। इतिहास में दूरगामी असर वाले ऐसे आकस्मिक हादसे होते रहे हैं।

छोटे मुग़लों के काल में, पहले प्लासी, फिर बक्सर युद्ध (1764) में अंग्रेजों की विजय और अगले साल इलाहाबाद की संधि ने व्यापारी कम्पनी को सत्ता और राजनीति की विस्तीर्ण दीर्घा में छलांग लगाने का अवसर उपस्थित कर दिया। इस तरह भारत में उपनिवेश युग का प्रारम्भ हुआ और धीरे–धीरे कम्पनी के शासन ने हिंदुस्तान का प्राचीन और उन्नत हस्तशिल्प और उससे जुड़ा स्वदेशी व्यापार–तंत्र पूरी तरह नष्टकर उसे इंग्लैंड के उद्योगों के लिए कच्चे माल का उत्पादक और तैयार माल के बाज़ार में बदल दिया। सीमित हुए संसाधनों की इस छीनाझपटी में जाति–व्यवस्था अपने क्रूरतम, अमानुषिक रूप में उभरकर सामने आई।

कम्पनी के हाथ में पहले अप्रत्यक्ष, फिर प्रत्यक्ष रूप से शासन का अधिकार आ जाने से वह व्यापार में पूर्णतः निरंकुश हो गई और भारतीय व्यापारियों को बाज़ार से बाहर कर दिया। कम्पनी अपने बदगुमान और उद्धत गुमाश्तों के माध्यम से किसानों और कारीगरों को अग्रिम भुगतान करती थी और माल या फ़सल तैयार होने पर उन्हें मनमानी मूल्य पर ख़रीद लेती थी। गुमाश्तों के साथ सशस्त्र टुकड़ियाँ चलती थीं जो सुनिश्चित करती थीं कि उत्पादक किसी देशी व्यापारी को माल न बेच सकें। इस धाँधली से मजबूर बहुत से कारीगरों ने अपना काम छोड़ दिया। इस तरह बेरोज़गार हुए कारीगर, जिन्हें कभी ज़मीन का जुगाड़ कर खेती करने की ज़रूरत नहीं महसूस हुई थी, भूमिहीन, खेत–मज़दूर बन गए। खेती पर भार बढ़ गया। कम्पनी द्वारा नये–नये इलाक़ों पर क़ब्ज़ा करने हेतु लड़ी गई लड़ाइयों के संसाधन जुटाने और बैलेंस शीट बेहतर दिखाने के लिए कृषि–लगान की दरें लगातार बढाई जाती रहीं। सूखे और बाढ़ में भी कोई रियायत नहीं दी जाती थी। बाद में लगान–वसूली के बिचौलियों का एक वर्ग विकसित हो गया जो सरकार को निश्चित दर पर मालगुजारी देता था किंतु वह किसानों से कितना वसूल करता था, इस पर कोई नियंत्रण नहीं था, जानकारी तक नहीं थी। इस तरह कारीगर के साथ–साथ किसान भी बरबाद हो गये। मुख्यतः इन्सानी कारणों से उद्भूत बंगाल के भयानक दुर्भिक्ष (1769–73) से वहाँ की जनसंख्या एक तिहाई रह गई। मुग़ल काल का सबसे सम्पन्न सूबा सबसे विपन्न बन गया। इतिहासकारों ने स्वीकार किया है कि इस दुर्भिक्ष का मुख्य कारण कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार और कर के नाम पर कम्पनी के कर्मचारियों की व्यक्तिगत लूट थी। ठीक वैसा ही अकाल ब्रिटिश शासन के अंतिम चरण में 1943 में पड़ा जिसका मुख्य कारण प्राकृतिक नहीं, मानवीय था जिसमें जापान से पराजय की ओर उन्मुख अंग्रेजों की पीछे हटने की स्थिति में शत्रु के लिए झुलसी धरती (Schorched Earth) छोड़ने की अग्रिम नीति अपनाने का भी जबरदस्त योगदान रहा। 1943 के बंगाल दुर्भिक्ष में कम से कम 30 लाख लोगों को तड़प–तड़प कर जान देनी पड़ी।

कम्पनी–राज से शुरू होकर बाद के मुकुट–राज में भी भारत को कच्चे माल का उत्पादक और तैयार माल के उपभोक्ता में बदलने की प्रक्रिया जारी रही। अंग्रेजों का इरादा भारत का औद्योगीकरण करने का कभी नहीं रहा। युद्धकाल में बाधित यातायात की मजबूरी के चलते दोनों विश्वयुद्धों के दौरान भारत के उद्यमियों को स्वदेशी उद्योग लगाने की सहूलियत देनी पड़ी थी।

ब्रिटिश काल में हस्त–शिल्प और कृषि–कार्य में लगे होने से शूद्र सबसे अधिक प्रभावित हुए। बाद में वैश्विक औद्योगीकरण के चलते हस्त–उद्योग वैसे भी लाभप्रद नहीं रह गये। शूद्र वर्ग की आर्थिक स्थिति में क्षरण के साथ प्रकृत रूप से उसकी सामाजिक स्थिति में भी गिरावट आई।

लेकिन सबसे बुरा हाल हुआ पेशे की अशुचिता के आधार पर अस्पृश्य मान ली गई जातियों का। वे द्विजों से ही नहीं, शूद्रों से भी कटकर अलग–थलग पड़ गईं, शूद्र भी उन्हें अस्पृश्य मानने लगे। उनकी मानवीय गरिमा पूरी तरह रौंद दी गई। भारत के इतिहास का यह सबसे गर्हित अध्याय है। सनातन धर्म का

सबसे बड़ा कलंक भी। इसके उद्भव और पुष्टीकरण का जघन्य कार्य प्रथम दृष्ट्या पुराणकाल की देन लगता है। इस पर अलग से विचार अपेक्षित है।

भाग–8

पहले आ चुका है कि त्रयी (ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद) के ब्राह्मण ग्रंथों में तीन ही वर्णों का उल्लेख मिलता है और कालांतर में चौथे वर्ण शूद्र की उत्पत्ति और विस्तार तीनों वर्णों के वर्णच्युत लोगों से हुआ जो कृषिकर्म, पशुपालन और हस्तशिल्प से जीविका अर्जित करने लगे। वैश्य वर्ण के जो लोग व्यापार नहीं कर पाये और कृषि तक सीमित रह गये, वे भी इसी वर्ण में शामिल हो गये। जंगलों की बहुतायत से उन्हें साफ़कर कृषियोग्य भूमि के विस्तार का असीमित अवसर था। जिन लोगों ने यह श्रमसाध्य कार्य किया कृषि–भूमि पर उनका स्वामित्व स्थापित हो गया और राजा का अधिकार सुरक्षा, व्यवस्था तथा सार्वजनिक हित के कार्यों के एवज में कृषि उत्पाद के छठे हिस्से के राजस्व तक सीमित रहा। राजपूत काल तक यही मानदंड बना रहा। यही कारण है कि भारत में यूरोप की उस सामंती व्यवस्था का उदय नहीं हुआ जिसमें समस्त भूमि पर मुकुट का अधिकार माना जाता था और लॉर्ड व वासल के श्रेणीबद्ध पिरामिड में सबसे नीचे स्थित भूदासों का, जो समस्त कृषिकार्य करते थे, कोई अधिकार नहीं था। यूरोप में श्रेणीबद्ध होने से सामंती तंत्र इतना एकजुट था कि भूदास एक सामंत की जागीर छोड़कर दूसरे की जागीर पर काम करने नहीं जा सकता था, इस तरह उसकी स्थिति बँधुआ मज़दूर जैसी थी। और कोड़े खाना उसके लिये आम बात थी। आधुनिक युग में औद्योगिक क्रांति होने पर यूरोप के यही भूदास शहरों की ओर भागे और कारख़ानों में काम करनेवाले 'सर्वहारा' बन गये।

भारत में नये–नये विकसित होते हस्तशिल्पों और उनसे जुड़े हस्त उद्योगों में जीविका का नया अवसर लगातार विस्तृत होता गया जिसने तीनों वर्णों के बेरोज़गारों को असीमित अवसर प्रदान कर शूद्रों की संख्या तीनों वर्णों में प्रत्येक से अधिक बना दी। इस तरह चारों वर्णों की आर्थिक स्थिति में संतुलन बना रहा और यूरोप के भूदासों के विपरीत भारतीय किसान (और हस्तशिल्पी भी) ख़ुशहाल बने रहे, जिसका प्रामाणिक उल्लेख हमें हुएन सांग और फ़ाहियान के यात्रा–वृतांतों से मिलता है।

यहाँ भूदास तो कभी अस्तित्व में नहीं आये किंतु उससे भी भयानक बात यह हुई कि इसी उत्पादक शूद्र वर्ण के कुछ शिल्पों और उनसे जुड़े हस्त–उद्योगों(जैसे चर्म उद्योग) की प्रकृति ऐसी थी कि उनके साथ धीरे–धीरे अशुचिता की धारणा जुड़ती गई और कालांतर में उसमें लगे शूद्रों को अस्पृश्य मान लिया गया। अपने समाजोपयोगी शिल्प से आत्मनिर्भर इन शिल्पियों ने (अन्य शिल्पकारों की तरह) कभी कृषिकर्म के लिये कृषियोग्य ज़मीन के जुगाड़ पर ध्यान नहीं दिया था, फलतः ये भूमिहीन बने रहे। अस्पृश्यता के उदय से इनकी सामाजिक स्थिति कमज़ोर हुई तो उसका असर उनकी मोलभाव की क्षमता पर भी पड़ा और आर्थिक स्थिति भी कमज़ोर होती गई। इस तरह पंचम वर्ण या अंत्यज समूह अस्तित्व में आ गया।

इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन के कुछ (शिल्पेतर) कार्य भी शुचिता के मानदंड से लोगों ने त्याग दिये और उनकी ज़िम्मेदारी भी सामाजिक रूप से कमज़ोर हुए इसी समूह पर डाल दी गई। मरे हुए पशुओं को बस्ती से हटाकर ठिकाने लगाने, प्रसूति के समय नाल काटने और साफ़–सफ़ाई करने (उत्तर में चमार तथा महाराष्ट्र में महार), मृत्युदंड को कार्यांवित करने (चंडाल या चांडाल), अंतिम संस्कार के समय शवदाह का मुख्य कार्य करने (डोम), कपड़े धोने (रजक) का ज़िम्मा भी इसी समूह पर आ पड़ा और अस्पृश्यों में भी जातियों पर जातियाँ बनती चली गईं। यह परिवर्तन किसी स्मृति या अन्य ग्रंथ के आदेश से एकाएक संभव नहीं था। इसकी प्रक्रिया धीरे–धीरे ही सामाजिक व्यवहार में उतरी और धीरे–धीरे ही व्यापक बनी और अन्य वर्णों की तरह जन्मना हो गई। सनातन व्यवस्था के इस भयानक कलंक का जनक कोई वर्ण विशेष नहीं हो सकता, इसकी उत्पत्ति में पूरे समाज, चारों वर्णों का योगदान था, चारों वर्ण इसकी अन्यायपूर्ण सुविधा के लाभार्थी रहे और अस्पृश्य के रूप में अन्त्यज चारों के अमानवीय भेदभाव का शिकार बने।

एक और बिंदु है जो अस्पृश्य जातियों के विस्तार पर रोशनी डालता है। मनुस्मृति सहित अधिकांश स्मृतियाँ केवल चांडाल, चर्मकार, रजक जैसे सीमित पेशों में लगे लोगों को अंत्यजों में शामिल करती हैं जब कि 1935 के अधिनियम में संलग्न सूची में सर्वेक्षण के आधार पर देश भर में कुल 429 जातियाँ अस्पृश्य पाई गई थीं जिनकी परिधि में कुल 5–6 करोड़ लोग आते थे। यह विस्तार शास्त्रों की नहीं, हिंदू समाज के अन्यायपूर्ण व्यवहार की देन है। स्मृतिकाल के बाद भी देश के भिन्न–भिन्न भागों में कर्मानुसार भिन्न–भिन्न समूहों को अस्पृश्य मानने की प्रक्रिया चलती रही और अस्पृश्य जातियों का विस्तार होता रहा।

यदि गीता को महाभारत का अंश मानें तो महाभारत काल तक पंचम वर्ण या अंत्यज का उदय नहीं हुआ था। श्रीकृष्ण द्वारा कहलाया गया गीता का यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्(4:13)

(गुण–कर्म के विभाजन से मेरे द्वारा चार वर्णों का सृजन हुआ। किंतु यह जान लो कि मैं उसका कर्ता हूँ भी, नहीं भी हूँ, क्योंकि मैं अखंड, अपरिवर्तनीय, अविनाशी (अव्यय) हूँ।)

इस श्लोक का प्रमाण प्रायः यह सिद्ध करने के लिये दिया जाता है कि वर्णव्यवस्था जन्मना नहीं थी, गुणानुरूप कर्म का विभाजन था, और गुण व्यक्ति–व्यक्ति में भिन्न होते हैं। मोटे तौर पर चार प्रधान गुणों के अनुरूप चारों वर्णों के कर्म निर्धारित हुए क्योंकि श्रीकृष्ण ने जन्मकर्मविभागशः के बजाय गुणकर्मविभागशः कहा। इस प्रमाण में कोई दम नहीं है क्योंकि ऐसी कोई संस्था नहीं हो सकती जो हर बच्चे के गुणों का आकलन कर उसे वर्ण प्रदान करे और तदनुरूप उसकी शिक्षा–दीक्षा एवं पेशा निर्धारित हो। हाँ, यह इस बात का प्रमाण अवश्य है कि महाभारत काल तक चार ही वर्ण थे और सारे मनुष्य चार वर्णों में विभाजित थे, पंचम वर्ण या अंत्यज जैसा कोई समूह नहीं था। यह महाभारत काल के बाद का विचलन हो सकता है।

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति के नस्ली सिद्धांतकार स्टैनली राइस (Stanley Rice, Hindu Customs and their Origin, pp.113–15) के प्रमेय के अनुसार अस्पृश्य जातियाँ इस देश की मूल निवासी हैं और वे न तो आर्य नस्ल की हैं, न द्रविड़ नस्ल की। राइस के अनुसार पहले द्रविड़ों ने आक्रमण कर मूल निवासियों को अस्पृश्य बनाया, फिर आर्यों ने आक्रमण कर द्रविड़ों को शूद्र बनाया। पहले आ चुका है कि आर्यों को एक नस्ली समूह मानने और आर्य–आक्रमण (और उसी तरह द्रविड़ आक्रमण) के सिद्धांत को रोमिला थापर जैसी अग्रणी वामपंथी इतिहासकर ने अब अस्वीकार कर दिया है। अपने पूर्व प्रमेय को संशोधित कर उन्होंने आर्यों को नस्ल के बजाय भाषा–समूह मान लिया है और आर्य–आक्रमण के प्रमेय को त्याग दिया है।

इस देश में कम से कम चार नस्लों (आर्य, द्रविड़, मंगोल और सीथियन) के लोगों का रक्त–मिश्रण प्रागैतिहासिक काल में सम्पन्न हो चुका था जिसके प्रमाण पहले दिये जा चुके हैं। यह भी आ चुका है कि इस नस्ली मिश्रण में देश के भिन्न–भिन भौगोलिक खित्तों में नस्ल–विशेष का प्राधान्य है किंतु एक ही भौगोलिक ख़ित्ते में सभी जातियों की नस्ल एक ही नस्ल के प्राधान्य वाली मिश्रित नस्ल है। अस्तु, ऐतिहासिक काल में वर्णव्यवस्था के उदय के समय आर्य और द्रविड़ जैसी कोई नस्ल नहीं रह गई थी। यह विचार डॉ. अम्बेडकर के उस मत के अनुरूप है जिनके अनुसार जातीय विभाजन नस्ली विभाजन नहीं है, एक ही नस्ल के लोगों का सामाजिक विभाजन है और यह इस उपमहाद्वीप में नस्लों के मिश्रण के बहुत बाद घटित हुआ। शुचिता के आत्यंतिक आग्रह से शूद्रों से अस्पृश्य या अंत्यज समूह का पृथक्करण और बाद में हुआ।

सवाल यह है कि हिंदुओं में शुचिता का यह भूत इस क़दर हावी कैसे हो गया?

पहले आ चुका है कि ऋग्वेद में सोपानीकृत वर्णव्यवस्था तक का कोई साक्ष्य नहीं, अस्पृश्यता का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्...' वाली ऋचा का समावेश करने वाले पुरुष सूक्त की प्रक्षिप्तता का भी विस्तार से विवेचन हो चुका है। कालांतर में ऋग्वैदिक समाज का जबर्दस्त कायापलट हुआ जो इतिहास–सिद्ध है और वर्तमान का अनुभूत सच भी। किंतु शुचिता के आग्रह का बीज ऋग्वेद के कर्मकांड वाले अंश में ही मौजूद था। ऋग्वेद के कर्मकांड का ही विशद रूप हमें यजुर्वेद में मिलता है।

शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण और कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण में अग्निहोत्र, चातुर्मास्य (तीनों ऋतुयों के प्रारम्भ में किए जानेवाले अनुष्ठान), दर्शपूर्णमास (पूर्णचंद्र और नवचद्र से सम्बंधित अनुष्ठान), पितृयज्ञ और विशाल स्तर पर सम्पन्न होनेवाले देव यज्ञ––सोम, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणि, अश्वमेध, पुरुषमेध (प्रतीकात्मक) और सर्वमेध––के विधि–विधान वर्णित हैं। इन अनुष्ठानों और यज्ञों का सामान्य केंद्रीय तत्व है यज्ञकर्ता, याजक, होता, ऋत्विज और यज्ञमंडप की शुचिता। विशेषकर यज्ञ–वेदी और अग्निकुंड की शुचिता के विस्तृत विधि–निषेध का उल्लेख मिलता है।

संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रंथों के अतिरिक्त दैनंदिन जीवन–यापन के लिए दैविक, पैतृक और सामाजिक कृत्यों और गर्भाधान से लेकर अंत्येष्टि तक के 16 संस्कारों की एक विस्तृत पद्धति विकसित हो गई जो गृह्यसूत्रों में निरूपित है। इन्हें स्मार्त सूत्र भी कहते हैं। ये श्रुतियों के अंश तो नहीं हैं किंतु दावा किया जाता है कि ये श्रुतियों की स्मृति के आधार पर रचे गये हैं। श्रौत सूत्र वैदिक यज्ञों से सम्बंधित हैं। धर्मसूत्र सम्पत्ति के उत्तराधिकार, जीवननिर्वाह के अधिकार जैसे व्यापक सामाजिक–प्रशासनिक पहलू के विधि–निषेध हैं। इनकी संख्या बहुत अधिक है किंतु अब केवल आपस्तंब, गौतम, बौधायन और वसिष्ठ के धर्मसूत्र उपलब्ध हैं। ब्रिटिश शासकों ने स्मृति ग्रंथों के साथ धर्मसूत्रों को ही हिंदू क़ानून का आधार बनाया था।

तीनों कोटि के सूत्रों में शुचिता पर आत्यंतिक आग्रह है। हिंदुओं, ख़ासकर ब्राह्मणों, में शुचिता का क्षेत्र अकल्पनीय रूप से व्यापक है। शारीरिक शुचिता, आहार की शुचिता, पूजा–अर्चना एवं अनुष्ठानों की शुचिता का एक विस्तृत तानाबाना है जो नैष्ठिक ब्राह्मणों में मेरे बचपन तक चला आया था। मूत्र–पुरीषोत्सर्ग तक के लिए विस्तृत नियम हैं। जैसे पुरीषोत्सर्ग के बाद शुद्ध मिट्टी से गुदा को तीन बार, बाएँ हाथ को दस बार और फिर दोनों हाथों को सात बार धोने का विधान है। इसके बाद बिना स्नान किए, वस्त्र बदले और आचमन किये पूजा–अर्चना नहीं हो सकती। मूत्र–त्याग के बाद भी इंद्रिय और हस्त–प्रक्षालन की प्रविधि निर्धारित है। नैष्ठिक लोग इनका अनुपालन भी करते थे।

भोजन की शुद्धता का असीमित विस्तार हुआ जो बाद में आत्यंतिक रूढ़ियाँ बनकर छा गया और तात्विकता से दूर हट गया। केवल साधकों के लिये भोजन की शुद्धता के तीन घटक निर्धारित थे– अधिष्ठान, जाति और स्पर्श। अधिष्ठान से तात्पर्य है भोज्य पदार्थ के अर्जन की शुचिता। साधक के लिए चोरी, डाका, छल–प्रपंच एवं अन्य आपराधिक तरीक़ों से अर्जित भोज्य पदार्थ अधिष्ठान–अशुद्धि के कारण वर्जित हैं। जाति से तात्पर्य भोज्य पदार्थों की जाति से है– लहसुन, प्याज, आलू जैसे ज़मीन के भीतर से प्राप्त पदार्थ वर्जित हैं। स्पर्श–सुचिता का एकमात्र तात्पर्य भोजन पकाने और ग्रहण करने की शुद्धता से है। नहा–धोकर, स्वच्छ स्थान पर और किसी गंदे काम में लगे व्यक्ति के स्पर्श से बचते हुए भोजन बनाना और भोजन करना साधक के लिए निर्धारित विधि–निषेधों में शामिल है। बाद में ख़ासकर शाकाहारी वैष्णव गृहस्थों द्वारा भी इसे अपना लिया गया और इसके तानेबाने का अयुक्तिपूर्ण और अतार्किक विस्तार होता गया। हम सब के भीतर तमाम गंदगियाँ मौजूद हैं। उनकी यथासंभव साफ़–सफ़ाई ही शुचिता है। शुचिता को जन्म से जोड़ना अविवेकपूर्ण है। किंतु कालांतर में हस्त–उद्योंगों से जुड़ी अशुचिता को जन्मना मान लिया गया और वह इस क़दर चिपक गया कि सनातन का अविभाज्य और कालातीत अंग बन गया।

मेरे बचपन तक हालत यह थी कि गाँवों के सवर्ण परिवारों में रसोई बनानेवाली स्त्री को स्नान करने के बाद एकवस्त्रा होकर (मात्र एक साड़ी पहनकर) रसोई बनानी पड़ती थी और उस वस्त्र को रोज़ धोया जाना ज़रूरी था, अवध में उसका नाम ही 'पखरुआ' पड़ गया था। रसोई के सामान, लकड़ी, बरतन आदि रखने के नियत स्थान के परिक्षेत्र में ऐसी स्त्रियों को छोड़कर कोई अन्य प्रवेश नहीं कर सकता था। बच्चों के अज्ञानवश रसोई की परिधि के भीतर चले जाने या भोजन करते हुए व्यक्ति को छू लेने मात्र से वह अपवित्र मान लिया जाता था। पुरुष–संसर्ग के बाद कोई स्त्री बिना फिर से स्नान किये रसोई नहीं बना सकती थी। ऋतुकाल में रसोई बनाने की बात तो दूर, ऋतुमती को बुज़ुर्ग औरतें तक नहीं छूती थीं। ब्राह्मण अधोवस्त्र और उत्तरीय या गमछे को छोड़कर कोई अन्य वस्त्र पहनकर भोजन नहीं करते थे। शायद इसलिए

कि इन्हें रोज़ धोया जाता था। सिले हुए वस्त्रों पर ख़ास पाबंदी थी। कारण शायद यह रहा हो कि वस्त्र सिलने की कला और सिले हुए वस्त्र बाहर से आए। प्राचीन भारत में अधोवस्त्र, अंतर्वस्त्र, उत्तरीय और उष्णीष (पगड़ी) का ही उल्लेख मिलता है। स्त्रियों के लिए उत्तरीय की जगह बिना सिली हुई कंचुकी होती थी। ठंड के दिनों में सामर्थ्य के अनुरूप शाल, दुशाला, कंबल या स्थानीय स्तर पर भेड़ का ऊन बँटकर हाथ से बुनी गई 'कमरी' ओढ़कर काम चलाया जाता था। बाद में बाहर से आए सिले हुए वस्त्र यहाँ भी बनने और पहने जाने लगे किंतु उन्हें अपवित्र मानने की धारणा बनी रही, इसीलिए भोजन और पूजा–अनुष्ठान के समय उन्हें उतारना पड़ता था।

कुल–ख़ानदान में किसी के यहाँ मृत्यु होने पर दस दिन के लिए 'अशौच' पड़ जाता था और पूरा कुल अस्पृश्य हो जाता था। पूजा–अर्चना बंद और जो वैष्णव विष्णु की प्रतीक शालग्राम शिला या किसी अन्य मूर्ति की पूजा करते थे उसे दूसरे पूजक के यहाँ पहुँचा देते थे। कुल के लोगों से बाहरी लोगों का प्रणामाशीर्वाद तक नहीं होता था। दाह संस्कार करनेवाला व्यक्ति तो अस्पृश्यों में भी अस्पृश्य। घर के बाहर बिना तला–भुना भोजन खुद बनाकर केवल एक समय खाता था, बाक़ी फलाहार से काम चलाता था। कोई उसको या उसके बिस्तर को नहीं छूता था। मातमपुर्सी (अवध में 'चहकारी') में आनेवाले लोग घर और ख़ानदान वालों से अलग चारपाइयों पर बैठकर, हालचाल पूछकर, सांत्वना देकर और शुद्ध (दशाह) का दिन पता कर, पानी तक पिए बिना लौट जाते थे। माना जाता था कि मृतक दस दिन तक प्रेत योनि में रहता था, इसीलिए उसे प्रतिदिन तिलांजलि दी जाती थी और प्रेत के सूच्याकार मुख से पानी पीने के लिए किसी पेड़ से लटकाकर, बूँद–बूँद पानी टपकाने वाला छिद्र करके मिट्टी के घड़े का 'घंट' बाँधा जाता था, प्रतिदिन उसमें ताज़ा पानी भरा जाता था। दसवें दिन दशाह–कर्म संपन्न होने के बाद ही जँवार के लोग मृतक के घरवालों के यहाँ जलपान ग्रहण कर उसके कुल को पुनः अपने समाज में स्वीकार करते थे।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि महाब्राह्मण जो कुल–गोत्र से वस्तुतः ब्राह्मण ही थे, मृतक–क्रिया में दान लेने के कारण दशाह के दिन को छोड़कर घोर अस्पृश्य माने जाते थे। द्वार पर उनका आना और उन्हें देखना तक पाप माना जाता था। उनकी बिरादरी ब्राह्मणों से बिल्कुल अलग–थलग, अपने–आप में सिमटी रहती थी।

मृत्यु की तरह ही कुल में बच्चे के जन्म पर पूरा कुल बारह दिनों के लिए अशौच (सूतक) से ग्रस्त और फलतः अस्पृश्य हो जाता था। पूजा–पाठ, बाहरवालों के साथ खान–पान सब बंद। और प्रसूता स्त्री अस्पृश्यों में भी अस्पृश्य। सौरगृह में बिना नहाए–धोए पड़ी रहती थी। परिवार की कोई अन्य स्त्री भी उसे छू नहीं सकती थी। उसके खाने का अलग बरतन होता था जिसमें ऊपर से खाना डाल दिया जाता था। बारहवें दिन 'निकासन' होने पर ही उसे मनुष्य होने की सुविधाएँ पुनः मिलती थीं।

ऋतुकाल में स्त्रियों की स्थिति इससे थोड़ी ही बेहतर होती थी। बस वे कोठरी में बंद नहीं होती थीं किंतु रजोनिवृत्ति के पूर्व नहा–धो नहीं सकती थीं, स्त्रियों सहित घर का कोई अन्य प्राणी उन्हें छू नहीं सकता था, केवल बच्चे को दूध पिलाने की छूट रहती थी।

इस तरह शुचिता के आत्यंतिक और विवेकहीन आग्रह के चलते अस्पृश्यता हिंदू समाज का अविभाज्य अंग बन गई थी। इसका विस्तार बहुत व्यापक था। किंतु जन्मना अस्पृश्य होने का अभिशाप केवल उन जातियों को भोगना पड़ा जो समाज के लिए उपयोगी और उसके स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य किंतु अन्य वर्णों की नज़र में शुचिता के मानदंड के प्रतिकूल कार्य करते थे। लोग भूल गये कि जातीय विभाजन के पूर्व हमारे पूर्वज ये सभी कार्य स्वयं करते थे।

आ चुका है कि शौचालय साफ़ करने के लिये भंगी जाति का किसी प्राचीन साहित्य में उल्लेख नहीं मिलता। घरों में शौचालयों तक का उल्लेख नहीं मिलता। हो न हो, शौचालय और उससे जुड़ी अस्पृश्य भंगी जाति की उत्पत्ति मध्ययुग की देन हो।

यहाँ देखने की बात यह है कि अन्त्यज लोग क्या–क्या काम करते थे या मजबूरी में उन्हें करने पड़ते थे। मृत जानवर बस्ती से बाहर कर उसका मांस और चमड़ा अलग करना चर्मकारों का काम होता था। उनकी स्त्रियाँ ही नवजात का नाल काटती थीं और सौर–गृह की साफ़–सफ़ाई करती थीं। विवाह या अन्य आयोजनों पर वे घर के आसपास की भी सफ़ाई करते थे। बदले में उन्हें साल में दो बार फ़सल की मड़ाई पर पैदावार का एक हिस्सा 'फरवार' के रूप में मिलता था। कुछ दशक पहले एक पंचायत करके चर्मकारों ने ये सारे काम छोड़ दिए। लगभग उसी समय से गाँव की औरतें प्रसूति के लिए सरकारी अस्पतालों या प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों में जाने लगीं और जीवन–मरण से जुड़ी एक बड़ी मानवीय समस्या खड़ी होने से रह गई। जानवरों का चमड़ा बेचने और किसानों से मिलनेवाले 'फरवार' की आय चर्मकारों की बंद हो गई। वे केवल खेत–मजदूरी तक सीमित हो गए। बाद में उन्हें ग्रामसमाज से कुछ ज़मीनें मिलीं और सरकार ने घर बनाकर दिए या उसके लिए आर्थिक सहायता दी। कुछ चर्मकार जूता–पनही चरस व चमड़े की अन्य वस्तुएँ बनाने के हस्तशिल्प में लगे रह गए। उनकी स्थिति बेहतर थी। कुछ इलाक़ों में पासी जाति के प्रायः भूमिहीन लोग पाए जाते हैं। वे मुख्यतः खेत–मज़दूरी करते थे। संभवतः केवल सुअर पालने और उनका मांस खाने के कारण वे अस्पृश्य मान लिए गए। कुछ दशकों पहले जातीय पंचायत के एक आदेश से उन्होंने सुअर पालना बंद कर दिया। प्लास्टिक के बढ़ते हुए प्रयोग से सुअर के बालों का औद्योगिक प्रयोग भी बहुत कम हो गया। भूमिहीन होने से ग्राम समाज की थोड़ी–बहुत ज़मीनें और घर बनाने के लिए आर्थिक सहायता उन्हें भी मिली। किंतु चर्मकारों और पासियों में खेत–मज़दूरी अभी बंद नहीं हुई है, मनरेगा की बदौलत अब नक़द मिलने वाली मज़दूरी के चलते खेत–मज़दूरी में भी काफ़ी बढ़ोत्तरी हुई है। इसके बावजूद खेत–मज़दूरों की क़िल्लत सभी गाँवों में सुनी जाती है। हेला जाति के लोग बहुत कम पाये जाते हैं। वे मृत जानवरों की आँत से ताँत खींचकर, उससे बाँधकर सरकंडे से सूप बनाते थे जिसका प्रयोग हर घर में अनाज फटकने के लिए होता है। सूप को मांगलिक कार्यों में शुभ भी माना जाता है किंतु उन्हें बनाने वाले अस्पृश्य माने जाते थे। चंडाल या चांडाल भिन्न–भिन्न इलाक़ों में भिन्न–भिन्न काम करते हुए पाए जाते हैं। स्मृतियाँ इन्हें ब्राह्मण स्त्री और शूद्र पुरुष के प्रतिलोम सम्बंध से उत्पन्न एक वर्णसंकर जाति बताती हैं। रजक कपड़े धोने का काम करते थे जिसमें प्रसूति–काल के कपड़े भी शामिल होते थे। कुछ नैष्ठिक ब्राह्मण रजक का धोया कपड़ा नहीं पहनते थे, वे घर पर ही अपने कपड़े धोते या धुलवाते थे। किंतु शेष सभी उनके द्वारा धुला हुआ कपड़ा तो पहनते थे किंतु उन्हें अस्पृश्य भी मानते थे। अस्पृश्यता की संस्था में हिंदू समाज का ढोंग पग–पग पर झलकता है।

डॉ. अम्बेडकर के आजीवन किए गए अथक प्रयासों, उनकी अध्यक्षता में ड्राफ़्ट किए गए संविधान के प्रावधानों और वयस्क मताधिकार के प्रतिफल में धीरे–धीरे बढ़ती सत्ता में दलित समाज की भागीदारी ने उनकी दशा सुधारने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। किंतु क्रीमी लेयर का प्रावधान न होने से उसका सबसे दलित तबक़ा, जो सुविधा का पहला हक़दार है, जहाँ था, लगभग वहीं पड़ा रह गया है, और लाभान्वित होनेवाला तबक़ा पीढ़ी–दर पीढ़ी पूरे दलित समाज के हिस्से का लाभ ले रहा है। इससे दलित वर्ग में क्षैतिज विभाजन से दो उपवर्ग बनते जा रहे हैं जिनमें आकाश–पाताल का अंतर है। और यह अंतर बढ़ता ही जाने वाला है। यह शोचनीय स्थिति है।

उससे भी अधिक शोचनीय यह है कि सवर्ण समुदाय, विशेषकर ब्राह्मण समुदाय, जिसके पुरखों का इस क्रूर और अमानवीय संस्था के उदय के पीछे प्रथम दायित्व बनता है, पुरखों के इस कृत्य पर तनिक भी क्षोभ या पश्चात्ताप अनुभव नहीं करता। इसके विपरीत वह आरक्षण को लेकर पीड़ित की मानसिकता में दिखाई पड़ता है।

सही है कि हम अपने पुरखों के कृत्यों के लिए ज़िम्मेदार नहीं हैं किंतु जेन्यूइन पश्चात्ताप–भाव खंडित सामाजिक सौहार्द के लिए बहुत कारगर औषधि का काम करता है। और जैसे बुराई बुराई को प्रेरित करती है वैसे ही अच्छाई अच्छाई को भी प्रेरित करती है, मात्रा का अंतर हो सकता है।

समय आ गया है कि हम किसी के बारे में सोचते समय उसे उसकी जाति के संदर्भ में न लेकर एक मनुष्य के, एक व्यक्ति के संदर्भ में लें। जातीय भेद समाप्त करने के लिए सबसे पहले हमारी सोच में परिवर्तन ज़रूरी है जो दलितों और ग़ैर–दलितों दोनों के लिए प्रासंगिक है।

मैं उन पोस्टों का बहिष्कार करता हूँ जो ऐसे जातीय विमर्श में मुब्तला होती हैं जो जाति विशेष के सभी व्यक्तियों को एक ही रंग में रँगकर देखता है। हमारे पूर्वजों ने जो किया वह अतीत हो चुका। उस पर हमारा वश नहीं। किंतु हम पूर्वजों के (सर्वांग महिमामंडन के बजाय) ऐसे कृत्यों को डिसओन तो कर ही सकते हैं जिनके चलते कृत्रिम वर्णव्यवस्था, जातिभेद, जातीय ऊंचनीच और अमानवीय अस्पृश्यता का जन्म हुआ और दीर्घकाल तक एक बड़े और निरपराध समुदाय को उसका अन्यायपूर्ण दंश झेलना पड़ा। स्मृतियों, धर्मसूत्रों, पुराणों तथा परंपरा में इतिहास की संज्ञा से अभिहित (वाल्मीकीय) रामायण एवं महाभारत के उन अंशों को डिसओन करना ही पड़ेगा जो अविवेकपूर्ण और अवैज्ञानिक ढंग से कुछ जातियों का महिमामंडन करते हैं और कुछ का क्षुद्रीकरण। रामचरितमानस की लोकप्रियता और निर्विवाद साहित्यिक एवं सामाजिक उपयोगिता के बावजूद उसके ऐसे अंशों को डिसओन करने के अलावा कोई युक्तिसंगत विकल्प नहीं है जो शूद्रों और अस्पृश्यों के लिए अपमानजनक हैं। पुराणों में भरे हुए अंधविश्वास–संवलित अन्य आख्यानों को भी डिसओन करने का समय आ गया है। ऊपर आ चुका है कि सनातन के मूलाधार उसके (पूर्वमीमांसा को छोड़कर) पाँच वैदिक दर्शन हैं जो उपनिषदों और संहिताओं के ज्ञानकांड और उन्मुक्त चिंतन की देन हैं, पुराणों के आख्यान और धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के विधि–निषेध नहीं। स्मृतियों में मानवमात्र के लिए उपयोगी कुछ बाते ज़रूर हैं किंतु एक ही अपराध पर भिन्न–भिन्न वर्णों के लिए भिन्न–भिन्न दंड की व्यवस्था, शूद्रों के लिए वेद पढ़ने–सुनने पर निषेध इत्यादि अविवेकपूर्ण और अमानवीय स्थापनाओं को डिसओन करना ही पड़ेगा।

किसी जाति विशेष में पैदा होना हमारे वश में नहीं था किंतु मनुष्य बनने के बजाय जन्म के संयोग से मिली जाति से चिपके रहने का विभेदकारी, समाजविरोधी अविवेक तो हमें तत्काल त्यागने की ज़रूरत है। और इसके लिए जो पूर्वज ज़िम्मेदार थे उनकी भर्त्सना सुनने और करने की भी ज़रूरत है। मानवता का और समय का भी तकाज़ा है कि हम उपरोक्त को डिसओन करें और भर्त्सना भी करें।

मैं एक अदना इंसान हूँ और बखूबी जानता हूँ कि मेरी कोई हैसियत नहीं, फिर भी मैं खुलेआम डिसओन करता हूँ और भर्त्सना भी करता हूँ। सवर्ण मित्रों से निवेदन है कि अगर वे मुझे इस रूप में, एक मनुष्य के रूप में, स्वीकार करने में असमर्थ हैं तो अपनी मित्रता से वंचित कर सकते हैं।

मुझे एहसास है कि क्रिया–प्रतिक्रिया से संचालित सामान्य मनुष्य के लिए यह कठिन है। ख़ासकर कुछ नवबौद्ध और दलित चिंतकों और साहित्यकर्मियों ने अतीत से खोज–खोजकर, प्रतिशोधात्मक स्वर में जो एकतरफ़ा तमस को उजागर करने और विद्वेष तथा नफ़रत को बढावा देने में अपनी सारी बौद्धिक ऊर्जा लगा रखी है, उसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक है। नवबौद्धों से मेरा इतना ही निवेदन है कि जहाँ तक मैं महात्मा बुद्ध के उपदेशों और बौद्ध दर्शन को समझ पाया हूँ, वे उसका ठीक विलोम कर रहे हैं। जैसे सनातन के वैसे ही बौद्ध धर्म के विधि–विधानों में मेरी कोई आस्था नहीं, किंतु महात्मा बुद्ध के उपदेशों और बौद्ध दर्शन, ख़ासकर उनका अनात्मवाद, अष्टांग मार्ग और मध्यममार्ग मुझे विवेकसम्मत लगता है और मैं उसका सर्वाधिक सम्मान करता हूँ। मुझे उसमें और नारायण गुरु (1856–1928) के विचारों तथा विवेकानंद के नववेदांत (1863–1902) में कोई तात्विक अंतर नज़र नहीं आता। महात्मा बुद्ध के अष्टांग मार्ग में जिस सम्यक्–दृष्टि, सम्यक्–वाक् और सम्यक्–स्मृति को केंद्रीयता दी गई है क्या नवबौद्धों का वर्तमान कृत्य उसके अनुरूप है? बार–बार अतीत की ओर देखना, अतीत की बातें करना और अतीत की कटु स्मृतियों को सायास जीवित रखना, अन्य को उनकी याद दिलाते रहना, उनका प्रचार करना महात्मा बुद्ध के विचारों, उनकी आत्मा के अनुकूल है? अतीत का प्रतिशोध लिया जा सकता है? अतीत हो चुके लोगों के दुष्कृत्य का प्रतिशोध उनकी वर्तमान पीढ़ियों से लेना बौद्ध धर्म के अनुरूप है या शुद्ध बर्बरता है? 'गतं न शोचामि' यूँ ही तो कहावत नहीं बन गया होगा। मनुष्य को अतीतजीवी नहीं, अग्रदर्शी बनने की सीख दी जाती है, प्राणिमात्र के कल्याण की

सीख दी जाती है। दूसरे क्या करते हैं, इस पर तो हमारा वश नहीं, किंतु हम स्वयं तो विवेकसम्मत और कल्याणकारी मार्ग पर चलने की कोशिश कर सकते हैं, तमाम अवरोधों और प्रतिगामी ताक़तों के बावजूद।

लेकिन सवर्णों को अतीत के उस काले अध्याय और उसके परिणामों को ज़रूर याद रखना चाहिये। गतं न शोचामि के बावजूद। उन्हें यह भी याद रखना चाहिये कि वर्णव्यस्था और जातिव्यवस्था सनातन की आत्मा के प्रतिकूल हैं, उसकी देन नहीं, उसके गंभीरतम विचलन हैं। सनातन की आत्मा अनन्य रूप से उदार और समावेशी है। सनातन धर्म में 'धर्म' का सम्बंध किसी सामाजिक व्यवस्था, किसी पूजापद्धति से नहीं है। मनुष्य के संदर्भ में धर्म का एकमात्र तात्पर्य मनुष्य का आद्य गुण, उसकी मनुष्यता, उसकी नैतिकता है। धर्म का शाब्दिक अर्थ लोकों को धारण करना, उन्हें संसक्त रखना भी है और आद्य गुण भी। दोनों अर्थ एक दूसरे के पूरक हैं। मनुष्य अपने आद्य गुण में रहकर ही धर्म के व्यापक अर्थ धारण करने को मूर्तिमान कर सकता है। इसलिए सनातन में कोई भी पूजा पद्धति मानने या किसी को भी न मानने की पूरी छूट है। ईश्वर को किसी भी रूप में मानने, न मानने की भी छूट है। किंतु यदि कोई व्यक्ति सार्वभौम नैतिकता को, मनुष्यता को अपना धर्म नहीं मानता तो निश्चय ही वह सनातनी नहीं हो सकता।

चातुर्वर्ण्य ने पंचम वर्ण के साथ जुड़कर बहुत कहर ढाया है किंतु कोई चारों पुरुषार्थों की बात क्यों नहीं करता, जिनमें 'धर्म' प्रथम और प्रधान पुरुषार्थ है? धर्मानुरूप (नैतिकता की मर्यादा में) काम (ऐषणाओं की पूर्ति) और धर्मानुरूप अर्थ (जीविकोपार्जन) स्वतः मोक्ष की ओर ले जाता है। यह निवृत्तिमार्गी धर्म नहीं है। जीवन को उसकी समग्रता में लेता है। जीवन उसके लिए एक उत्सव है जिसमें 64 कलाओं का सम्मान है, महाकाव्यों का स्वस्थ सौंदर्य–बोध है किंतु सब कुछ धर्म की, नैतिकता की सीमा से सीमित है। कोई बहुत पूजा–पाठ करता है, ईश्वर की बहुत भक्ति करता है किंतु अपना काम निष्ठा से नहीं करता, भ्रष्टाचार में लिप्त रहता है, अनायास लोगों का दिल दुखाता है, उनका अपकार करता है तो वह धार्मिक नहीं, सनातनी तो कतई नहीं। सनातन में दुनिया के किसी भी अन्य धर्म या मज़हब से अधिक छूट है। मनुष्य भक्तिमार्ग पर चल सकता है, जिसकी चाहे, उसकी पूजा कर सकता है। ज्ञान मार्ग पर चल सकता है, कर्म मार्ग पर चल सकता है, रहेगा वह सनातनी ही। कर्म मार्ग के निकष के साथ यह आलेख समाप्त करता हूँ–

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नपुनर्भवम्।
कामये दुःखताप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।

❀★❀

अभिनय और दृश्य योजना का सफल प्रयोग

'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक'

प्रो. एस. वी. एस. एस. नारायण राजू*

यह सर्व विदित सत्य है कि नाटक का मूलाधार रंगमंच है। इसीलिए नाटककार रंगमंच के आधार पर ही नाटक का सृजन करता है। सफल नाटककार को रंगमंच की स्पष्ट परिकल्पना होती है जिसके अभाव में नाटक लिखा तो जाता है पर रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं होता। नाटक का रंगमंचीय होना अत्यंत महत्वपूर्ण है। सफल रूप से प्रदर्शित नाटक को ही सफल नाटक माना जाता है। नाटककार नाटक की रचना रंगमंच पर प्रदर्शित करने के लिए ही करते हैं। नाट्य लेखन का उद्देश्य ही है उसे रंगमंच पर प्रदर्शित करना। प्रसिद्ध आधुनिक नाटककार मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल और सुरेन्द्र वर्मा भी इसी मत में विश्वास रखते हैं कि जो नाटक प्रदर्शन की क्षमता से वंचित हो, वह सफल नाटक नहीं है। रंगमंचीय विशेषताओं को अभिनय, रंग सज्जा तथा परदे, ध्वनि एवं प्रकाश व्यवस्था के आधार पर परखने की प्रथा पाई जाती है। नाटककार सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में अभिनय, रंग सज्जा तथा परदे, ध्वनि एवं प्रकाश व्यवस्था के आधार पर अनेक विशेषताएँ पाई जाती है।

'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटक में शीलवती, ओक्काक, महामात्य, महाबलाधिकृत और अन्य पात्रों द्वारा वाचिक एवं आंगिक अभिनय रसोद्घाटन करता है। नाटक के प्रारंभ में महत्तरिका का गहरी साँस लेते हुए यह कहना "मुझसे सहन नहीं हो रहा है वह श्रृंगार इसलिए।"[1] दर्शक में उत्सुकता उत्पन्न कर देता है। फिर फीकी मुस्कान द्वारा अनहोनी की ओर इंगित करते व्यंग्य करना भी नाटक के प्रारंभ से ही दर्शक को पकड़ कर रखता है। ओक्काक का "अन्तर्मुख–सा होकर दिन गिनती करना"[2] "दोनों हथेलियों से माथा ठोकना"[3] दृष्टि बचाकर ग्लानिमिश्रित क्रोध में आना"[4] ओक्काक की ग्लानि, क्रोध, आत्मविश्वास की कमी और निस्सहायता को दर्शाता है। नाटक के शुरू से अंत तक ओक्काक की आंगिक चेष्टाओं में और वाचिक अभिनय में निस्सहायता ग्लानि और क्रोध झलकता है। ओक्काक का अभिनय श्रोताओं में उसके प्रति सहानुभूति जगाता है। ईश्वर को संबोधित करता यह अभिनय ओक्काक की दुःखद् स्थिति को प्रकट करता है यथा–

"**ओक्काक** : (खीझता हुआ) लेकिन कैसा है बनाने का यह ढंग? इसका रूप क्या होगा? (कुछ आगे बढ़ आता है। दोनों हाथ ऊपर उठाकर, भर्राए स्वर में) हे प्रभु ! क्या संसार की सारी ग्लानि मेरे ही भाग में आनी थी।"[5]

ओक्काक : (दोनों कानों पर हाथ रखकर, ऊँचे स्वर में) मत बोलिए मेरे सामने यह शब्द !.... मुझे इस शब्द से घृणा है... धर्मनटी ।"[6]

विवश रूप में लंबी साँसे लेना, और दोनों कानों पर हाथ रखने का अभिनय ओक्काक की मानसिक स्थिति को प्रकट करता है।

शीलवती का अभिनय इस नाटक की सफलता का मूल एवं मुख्य कारण है। पहले अंक के अभिनय में शारीरिक भंगिमाओं की कमी शीलवती के आत्मविश्वास का सूचक है जबकि दूसरे अंक में प्रतोष के साथ उत्साह देखा जा सकता है। 'प्रतोष के बाहुमूल पर कपोल रगड़ना, अधरों से छूकर फिर उसके बाँहों में समेटने"[7] का अभिनय दर्शक की धड़कन को तेज कर देता है। शीलवती के द्वारा ऐसा अभिनय करवाकर

*** विभागाध्यक्ष : हिन्दी, समाज विज्ञान एवं मानविकी संकाय, तमिलनाडु केंद्रीय विश्वविद्यालय, नीलक्कुडी, तिरुवारूर, तमिलनाडु–610005।**

सुरेन्द्र वर्मा दर्शक के इन्द्रियों को उत्तेजित करता है। तीसरे अंक में, प्रतोष से शारीरिक तृप्ति पाकर लौटने के बाद शीलवती के आंगिक एवं वाचिक अभिनय में तीव्रता देखी जा सकती है जो उसके आत्मविश्वास, तृप्ति एवं परिपूर्णता को बताता है। शीलवती की कसमसाना, ठंडी साँस भरना, गहरी साँस लेकर सूँघने का अभिनयन करके ओक्काक को चिढ़ाने का यह सफल प्रयत्न है, यथा –

"**ओक्काक** : (मन्द स्मित से) तो... ? कैसी बीती रात ?

शीलवती : (कसमसाकर, ठंडी साँस के साथ) पता ही न चला कि कब भोर हो गई .... और तुम्हारी ?

ओक्काक : (कुछ ठहरकर, हल्की मुस्कान से) यह शयनकक्ष साक्षी है.. ये भित्तियाँ और गवाक्ष ... यह गन्ध कैसी है ?.. (शीलवती हँसती है। कुछ ऊँचे स्वर में) बोलो न ?... कैसी हैं यह गन्ध ? (फिर हँसती है) अंगराग?.. (हर शब्द पर नाहीं में सिर हिलाती है) गोरोचन ?... लाक्षारास ?... सुरभि ?

शीलवती : (उन्मादिनी–सी) नहीं.. कुछ भी नहीं...... ?

ओक्काक : (विह्वल होकर) तब फिर।

शीलवती : (सूँघने की गहरी साँस लेकर) सूँघो.. पहचानो.....

ओक्काक : (तीव्र स्वर में) शीलवती !

शीलवती : (स्थिर दृष्टि से देखती है) इस गन्ध से तुम्हारा कोई परिचय नहीं... अगर होता, तो कल की यह रात न मेरे जीवन में आती, न तुम्हारे।

ओक्काक : (किंकर्तव्यविमूढ)–सा कक्ष का आधा चक्कर लगाता है। यकायक, दाँए द्वार की ओर मुड़कर) महत्तरिका... महादेवी के स्नान की व्यवस्था हो।

शीलवती : (उतनी ही ऊँचे स्वर में) नहीं.... (सहज स्वर में) अभी नहीं ....[8]

शीलवती का अभिनय दर्शक को यह अनुभव कराता है कि शीलवती ने प्रतोष के साथ काम में कैसी तृप्ति पाई है। शीलवती का अभिनय इतना प्रभावशाली है कि मानो विवाहित दर्शक अपने अनुभवों को याद करने लगता है और अविवाहित दर्शक इस प्रक्रिया से गुजरना चाहता है।

उसके बाद शीलवती का एक के बाद एक करके महामात्य, महाबलाधिकृत और राजपुरोहित से आत्मविश्वास के साथ आँखों में आँखें मिलाकर प्रश्न करने का अभिनय अति उत्तम है। शीलवती से ऐसा अभिनय करवाकर नाटककार दर्शक को उत्तेजित करता है और दर्शक शीलवती से पूरी तरह जुड़ जाता है और रचनाकार के उद्देश्य को स्वीकार करता है।

दृश्य योजना को लेकर समय के साथ अनेक बदलाव आ रहे हैं। विज्ञान का प्रभाव रंगमंच पर भी पड़ने लगा है इसीलिए एक सा प्रतीत दृश्य योजना रंग सज्जा और दृश्य बंध को अलग–अलग करके देखा जा रहा है (जबकि सबको मिलाकर रंग सज्जा कहने का प्रचलन है। दृश्यबंध और दृश्य सज्जा में सूक्ष्म अंतर है। दृश्य बंध वह रंग संस्कार है जो पूरे नाटक में एक सा रहता है। जबकि दृश्य सज्जा को दृश्य विशेष के समाप्त होने पर रंगमंच से हटा लिया जाता है। साठोत्तर नाटकों में एक दृश्य बंध को प्रकाश योजना के द्वारा कई दृश्यों या दृश्य सज्जा के रूप में प्रतिष्ठित करने की नवीन प्रथा का प्रयोग हुआ है। सुरेन्द्र वर्मा ने एक ही दृश्यबंध को प्रकाश योजना के द्वारा अलग–अलग दृश्यों में या अलग–अलग कालावधि के रूप में प्रदर्शित किया है।

'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में नाटक का दृश्यबंध राजप्रसाद का शयनकक्ष है। नाटक सूर्यास्त, रात्रि के विभिन्न पहर और सूर्योदय, तीन अंकों में पूरा होता है। तीनों को एक ही दृश्यबंध में बांध दिया गया है। नाटककार ने इसके लिए संदूकिया दृश्यबंध (बाक्स सेट) की कल्पना की है। नाटक का दृश्यबंध ऐसा है कि– "राजप्रसाद का शयनकक्ष। मंच की अगली सीमा पर दाई और बाईं ओर एक–एक द्वार। दाँए के बाद मदिराकोष्ठ, बाँए के बाद चौकी पर दर्पण एवं प्रसाधन सामग्री, सामने आसन्दी। बाईं ओर बड़ा जालगवाक्ष बाई तथा सामने की दीवार के लगभग मध्य भाग सेलेकर दोनों (दीवारों) के सम्मिलन एक मंच के बीचोंबीच ऊपर से लटकता मुक्तालाप। सामने की दीवार के पास शैय्या कुछ आसन एवं चौकियाँ।"[9]

इस एक दृश्यबंध के द्वारा नाटककार ने तीन अंकों और तीन अलग–अलग समय के पहरों को आसानी से प्रस्तुत किया है। नाटक में शैया एक प्रमुख बिंदु के रूप में उभरकर आता है। शैया सारे नाटक की केन्द्रिय संवेदना को प्रकट करता नाटक का निर्णायक बिन्दु रखता है। इस दृश्यबंध की सराहना करते हुए जयदेव तनेजा लिखते हैं कि– "नाटककार ने दृश्यबंध को पर्याप्त लचीला बनाकर ओक्काक तथा महत्तरिका और प्रतोष तथा शीलवती के समानान्तर चलते दृश्यों को उनके पूरे वैषम्य और नाट्य– वैभव के साथ कलात्मकता से प्रस्तुत किया है।"[10] एक ही सेट में नाटककार ने दृश्य बदलते ही कभी ओक्काक तथा महत्तरिका, फिर प्रतोष तथा शीलवती और फिर ओक्काक को बताया है।

नाटक के पहले अंक में राजप्रांगण के दृश्य को महत्तरिका गवाक्ष से देखने और राजप्रांगण में नागरिकों की भीड़ और शीलवती का प्रतोष को जयमाला पहनाने के कृत्य की जानकारी ओक्काक को देने का दृश्य सुरेन्द्र वर्मा की प्रयोगशीलता का परिचय देता है। नाटककार ने यहां पर राजप्रांगण के दृश्य को न बताकर एक ही सेट से काम लिया और राजप्रांगण के दृश्य को बताने से ज्यादा महत्वपूर्ण शयनकक्ष में पीड़ा, विवशता, जिज्ञासा और करुणा का अनुभव कर रहे ओक्काक और उसकी प्रतिक्रिया को दर्शकों तक पहुँचाकर उस पात्र के साथ सहानुभूति उत्पन्न करना है। इसी दृश्य के बारे में पाण्डेय विनय भूषण का कहना है कि– "महत्तरिका द्वारा गवाक्ष से राजप्रांगण के दृश्य का चित्रण शास्त्रीय दृष्ट से 'सूच्य' और 'दृश्य' का मिश्र प्रयोग होने के कारण एक अनूठा शिल्प प्रयोग बन गया है।"[11]

नाटककार ने राजप्रसाद के शयनकक्ष का प्रयोग प्रतोष के शयन कक्ष के रूप में किया है। नाटक में ओक्काक और प्रतोष के लिए वह एक शैया अलग–अलग शैया लगे श्रोता के लिए वह शैया एक ही है, उस पर शीलवती को 'लेने–देने' वाला व्यक्ति अलग है।

संदर्भ–सूची :–

1. सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक : सुरेंद्र वर्मा, पृ. सं. 20।
2. वही, पृ. सं. 24।
3. वहीं।
4. वही, पृ. सं. 25।
5. वही, पृ. सं. 26।
6. वही, पृ. सं. 27।
7. वही, पृ. सं. 58।
8. वही, पृ. सं. 68–69।
9. वही, पृ. सं. 19।
10. वही, पृ. सं. 17।
11. हिंदी के नए नाटकों में प्रयोग तत्व – पाण्डेय विनय भूषण, पृ. सं. 125।

ഇ★ഌ

दयानंद सरस्वती की नारी शिक्षा सम्बन्धी अवधारणा

आकांक्षा अग्निहोत्री*

प्रत्येक समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार है। परिवार से कुल, वंश, जाति, राज्य, देश बनता है, प्रत्येक देश की कुछ ना कुछ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि होती है उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में अनगिनत कहानी, संघर्ष, आंदोलन, क्रांतियां, चिंतक, क्रांतिकारी सम्मिलित होते हैं, जिन पर वह देश राष्ट्र सदैव गौरव अनुभव प्रतीत करते हुए उस गौरवमयी इतिहास की रचना करता है ताकि आने वाला समाज उसके गौरवशाली इतिहास के पन्नों से परिचित हो एवं इन विचारों से शिक्षा प्राप्त कर अपने अंदर कुछ उच्च गुणों को उत्पन्न कर सके जिससे समाज, कुल, वंश, राष्ट्र लाभान्वित एवं गौरवान्वित हो। ऐसे ही भारतीय इतिहास में एक मनीषी दयानंद सरस्वती जी उत्पन्न हुए जिन्होंने भारत को उसके प्राचीन इतिहास से वैदिक सभ्यता सीखते हुए नारा दिया था, "वेदों की ओर लौटो" संभवतः महर्षि दयानंद जी समझ चुके थे कि भारत का हित सदैव से वैदिक सभ्यता एवं परंपरा में ही निहित रहा है। भारतीय पुरातन वैदिक सभ्यता– ऐसी सभ्यता रही है, जो संभवतः आज से भी ज्यादा सभ्य, सुसंस्कृत,परंपरागत, विकसित रही, क्योंकि जो वैदिक काल में संभव था शायद वह आज भी नहीं है। वैदिक काल में समाज वर्ण व्यवस्था में विभाजित था। यह वर्ण व्यवस्था कर्म पर आधारित थी, जाति पर नहीं परंतु धीरे–धीरे यह वर्ण व्यवस्था जाति पर आधारित हो गई। दयानंद जी ने इसे कर्म पर आधारित ही सही माना। वैदिक काल में जिस प्रकार नारी की स्थिति बहुत उच्च थी। उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए दयानंद जी ने अत्यंत प्रयास किए। स्वामी दयानंद जी के अनुसार ''जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदैव प्रसन्न रहते हैं इस कुल में आनंद, लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है, और जहां विरोध, कालह होता है वहां दुख, दर्द और निंदा निवास करती है।''[1] यह कथन दयानंद सरस्वती जी का तो है पर यह मूल रूप से हमारे वेदों में कहा गया है।

राष्ट्रवादी, आध्यात्मिक चिंतक, धर्म सुधारक व समाज सुधारक, एकेश्वरवादी, मूर्ति पूजा विरोधी, निराकार पूजा, हिंदू पुनरुत्थानवादी रूप रखने वाले स्वराज, स्वदेशी, स्वभाषी एवं राष्ट्रवाद के दृष्टिकोण रखने वाले ऐसे भारतीय मनीषियों दयानंद सरस्वती उन भारतीय में श्रेष्ठ स्थान रखते हैं जिन्होंने भारतीय मानस पटल पर नारियों के उत्थान व उनकी गरिमा बनाने के लिए अनेकों उपाय सुझाए, जो कि हमारी भारतीय वैदिक परंपरा में पहले से ही विद्यमान रहे, उनको पुनः याद दिलाने का कार्य स्वामी सरस्वती ने किया। इन्होंने भारतीय समाज की कुरीतियों को नष्ट करने का प्रयास जीवन पर्यंत किया। उस समय भारतीय समाज में कुछ कुरीतियां समाज के किसी राज्य के किसी जाति विशेष में ही होती थी जैसे सती प्रथा किंतु उसको पूरे भारत में बताया गया, परंतु कुछ कुरीतियां पूरे भारत में व्याप्त थी उदाहरण बाल विवाह, पर्दा प्रथा, बहु विवाह, धर्म के स्थान पर पाखंड आदि। इन कुरीतियों को समाप्त करने के लिए कुछ विशेष आंदोलन चलाए व कई संस्थानों की स्थापना भी की, समाज के हित के लिए विभिन्न नियम भी बनाए गए, कई ग्रंथ का भी निर्माण हुआ। इन आंदोलन को करने वाली संस्थाओं का निर्माण करने वालों में ही दयानंद सरस्वती जी भी हैं, जिन्होंने आर्य समाज की स्थापना की, पाखंड खंडिनी पताका लहराई, वेदों पर भाष्य लिखे। स्वामी दयानंद के पाखंड खंडिनी पताका बनाने का कारण समाज में व्याप्त पाखंड था। उस समय मूर्ति पूजा का प्रचलन था, धार्मिक कर्मकांड व्याप्त थे। इन्होंने जैन, बौद्ध इस्लाम धर्म का खंडन करते हुए मानव समाज के हित की कामना में वृद्धि करते हुए सत्य बातों को स्वीकारते हुए प्रेम भाव में वृद्धि की उपयोगिता को समझते हुए आधुनिक युग में वैदिक धर्म का पुनः स्थापना व विस्तार के लिए शुद्धि संस्कार प्रारंभ किया बाद में इसे आंदोलन का रूप दिया। इस आंदोलन का प्रमुख उद्देश्य ऐसे सभी पुराने हिंदुओं को पुनः हिंदू धर्म अपनाने का अवसर देना था जो धन लालच या सामाजिक बहिष्कार के कारण विधर्मी हो गए

***शोधार्थी, अनुस्नातक इतिहास विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय वल्लभविद्यानगर, गुजरात।**

थे। दयानंद सरस्वती जी ने आधुनिक भारत में धर्म में व्याप्त रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों को नकारते हुए, वैदिक सभ्यता का उदाहरण देते हुए बताया कि धार्मिक चिंतन के क्षेत्र में वैदिक ज्ञान ही मूल स्रोत है।

स्वामी दयानंद ने बताया किसी सफलता का राज इस तथ्य में निहित है कि आधुनिक युग के पहले भारतीय थे जिन्होंने पाश्चात्य शिक्षा तथा संस्कृति से प्रभावित युवक वर्ग को इस सत्य से परिचित कराया कि भारत के सर्वोच्च प्राथमिक चिंतन में अंधविश्वास एवं बौद्धिक मान्यताओं के लिए कोई स्थान नहीं है और इसलिए इनके त्यागने पर ही हिंदू धर्म पूर्णत सुरक्षित है। वैदिककाल में धर्म में इन सब का कोई अस्तित्व नहीं। स्वामी दयानंद सरस्वती जी ने बचपन से ही वेदों का अध्ययन करके जान लिया था। इन्होंने बाल्यावस्था में ही पढ़ लिया था। इसके अतिरिक्त जीवन–भर पठन–पाठन करते रहे वेदों की गरिमा, महत्व को अक्षुण्य बनाए रखने का प्रयास करते रहे और "वेदों की ओर लौटो का नारा "भी दिया, वैदिक शिक्षा प्रदान करने के लिए गुरुकुलो की स्थापना भी की। उनका मानना था कि भारतीय शिक्षा, संस्कृति ज्ञान के बिना हमारा वंश, देश उन्नति नहीं कर सकता एवं शिक्षा को सब कर्मों का आधार माना है। उन्होंने ये भी माना है कि बालक की शिक्षा उसके गर्भ से ही अर्थात गर्भाधान संस्कार से ही प्रारंभ हो जाती है। सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है "यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है। वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता, तीसरा आचार्य, होवे तभी मनुष्य ज्ञानवान होता है। वह कुल धन्य है ! वह संतान बड़ा भाग्यवान! जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान हो। जितना माता से संतानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है उतना किसी से नहीं। जैसे माता संतानों पर प्रेम और उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं करता इसलिए (मातृमान) अर्थात "प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान" धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करें।"[2] स्वामी दयानंद कहते हैं– 'बालक की प्रथम पाठशाला उसका घर एवं प्रथम गुरु उसकी माता होती है,जो संस्कार उसे माता से प्राप्त होते हैं वह जीवन पर्यंत साथ रहते हैं अतः माता बालक को उत्तम शिक्षा प्रदान करें जिसमें उसका भी हित हो एवं इस संसार का भी।"बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करें जिसमें संतान सभ्य हो और किसी अंग से कुचेष्टा न करने पावे।जब बोलने लगे तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण उच्चारण कर सके वैसा उपाय करें कि जो जिस वर्ण का स्थान प्रयत्न अर्थात जैसे– इसका ओष्ठी स्थान और स्पष्ट प्रयत्न दोनों ओष्ठों को मिलाकर बोलना, ह्रस्व,दीर्घ, प्लुत स्वरों, अक्षरों को ठीक बोल सकता है।"[3]

इस प्रकार यदि माता शिक्षित नहीं है वह बालक को शिक्षा किस प्रकार प्रदान करें ?अतः उन्होंने नारी की शिक्षा पर बल दिया एवं समाज में विद्यमान इस विचारधारा का विरोध किया की नारी पुरुष समान नहीं है, प्रकृति ने नारी को शरीर तथा स्वभाव से पुरुष से भिन्न अवश्य बनाया है, यह भिन्नता ही उसे पुरुष की तुलना में श्रेष्ठ, उच्च बनाती है, शारीरिक भिन्नता में ही गर्भधारण गुण सम्मिलित है जो उसे मातृत्व प्रदान कर पूर्ण बनाती है। "जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता है सुंदर, शील–स्वभावयुक्त सत्य भाषण आदि नियम पालनयुक्त और जो अभियान अपवित्रता से रहित अन्य की मलीनता के नाशक, सत्योपदेश विद्यादान से सांसारिक–जनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित वेद विहित कर्मों से पराए उपकार करने में रहते हैं वे नर और नारी धन्य हैं।"[4] स्वामी दयानंद ने नारी शिक्षा की कुछ नियम भी बनाएं वह सह शिक्षा के पक्षधर नहीं थे। उनके अनुसार लड़कों के विद्यालय और लड़कियों के विद्यालय में आपस में बहुत दूरी होनी चाहिए विवाह तक ब्रह्मचर्य के पालन को रखने के लिए बालक एवं बालिका को बालक को बालिका का एवं बालिका को बालक के दर्शन तक का निषेध किया है ऐसा भारत में प्राचीन काल में भी होता था यही कारण था की तब ब्रह्मचर्य स्थापित था।

आठवें वर्ष ही लड़कों को लड़के के, तथा लड़कियों को लड़कियों की पाठशाला में भेज दें। जो अध्यापक पुरुष एवं स्त्री भ्रष्टाचारी हो उनसे शिक्षा न दिलाये, किंतु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हो, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं। विद्या पढ़ने का स्थान एकांत देश में होना चाहिए और लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक–दूसरे से दूर होनी चाहिए, जो वहाँ अध्यापिका और अध्यापक पुरुष व भृत्य अनुचर हो वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहे।"[5] "स्त्रियों की

पाठशाला में 5 वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में 5 वर्ष की लड़की भी न जाने पाये अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी वह ब्रह्मचारिणी रहे तब तक स्त्री पुरुष का दर्शन, स्पर्श, एकांत, सेवन, भाषण विषयक था। परस्पर क्रीड़ा विषय का ध्यान और संग– इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहे और अध्यापक लोग इनको इन बातों से बचावे, जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर, आत्मा से बलयुक्त हो, आनंद को नित्य बढ़ा सके। पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम व नगर रहे।''[6]

शिक्षा को सार्वभौमिक बताते हुए कहा है– यह एक नियम होना चाहिए और ''यदि कोई पुत्र पुत्री को शिक्षा नहीं देता है तो उसे दंड का भी प्रावधान होना चाहिए। शिक्षा के अतिरिक्त बालक, बालिका को योग इत्यादि का अभ्यास भी कराना चाहिए। योग के द्वारा ही इंद्रियों को वस में रखा जा सकता है। कन्या नां संप्रदानं चकुमारणां रक्षणम्। (मनुस्मृति) इसका अभिप्राय है कि इसमें राजा नियम और जाति नियम होना चाहिए कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवे, जो न भेजे वह दण्डनीय हो। प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो। पिता माता का अध्यापक अपने लड़कों–लड़कियों को अर्थ सहित गायत्री मंत्र का उपदेश कर दें।''[7] इसी प्रकार स्त्रियों को भी योग आदि करने की शिक्षा दी, ताकि समाज में उच्च श्रेणी के पुरुषों एवं स्त्रियों का निर्माण सके। ''स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करें। भोजन छादन, बैठने, उठने, बोलने, चलने, बड़े–छोटे से यथायोग्य व्यवहार करने का उपदेश करें।''[8] दयानंद सरस्वती ने ब्रह्मचर्य पालन को सच्ची शिक्षा पद्धति की अनिवार्य शर्त बताया, और यह मत रखा की शिक्षण कार्य विद्वान एवं चरित्रवान व्यक्तियों द्वारा संपन्न होना चाहिए। ब्रह्मचर्य को सच्ची शिक्षा की आवश्यक शर्त मानने के कारण उन्होंने गुरुकुलों की स्थापना की आवश्यकता पर बल दिया। ब्रह्मचर्य के पश्चात ही विवाह के विषय में विचार करने को बताया। विवाह के विषय में बालक एवं बालिका की आयु के विषय में सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है– जो 25 वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य करें तो 16 वर्ष पर्यंत कन्या, जो पुरुष 30 वर्ष पर्यंत ब्रह्मचारी रहे तो स्त्री 17 वर्ष, जो पुरुष 36 वर्ष तक रहे तो स्त्री 18 वर्ष, जो पुरुष 40 वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य करें तो स्त्री 24 वर्ष पर्यंत ब्रह्मचर्य सेवन रखें। 1848 में वर्ष से आगे पुरुष और 24 में वर्ष से आगे इसकी प्रॉब्लम में ना रखना चाहिए परंतु यह नियम विवाह करने वाले पुरुष अवस्थियों का है और जो विवाह करना ही ना चाहिए वे मरंपर्यंत ब्रह्मचारी रह सकते हैं हो तो भले ही रहे परंतु यह काम पूर्ण विद्या वाले जितेंद्र और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है यह बड़ा कठिन काम है कि जो काम के वेद को थम के इंद्रियों को अपने बस में रखना।''[9] ब्रह्मचर्य का पालन स्त्रियों को भी करना आवश्यक बताया। जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी अपने अनुकूल प्रिय सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं वैसे कन्याकुमारी ब्रह्मचर्य सेवन वेदादि शास्त्रों को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होकर युवावस्था युक्त पुरुष को प्राप्त होवे। इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए।''[10]

दयानंद जी ने विवाह को भी जीवन का अंग मानते हुए बताया कि विवाह वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार एवं सामान्य स्त्री एवं पुरुष की पसंद पर निर्भर होना चाहिए। वैदिक काल में कन्या की शिक्षा, पाक शिक्षा एवं सर्व गुणों से संपन्न होने के बाद स्वयंवर की व्यवस्था थी। उस व्यवस्था को उन्होंने श्रेष्ठ बताया। इस प्रकार जो कन्या अपनी पसंद से वर चुनती, विवाह करती, उसके पश्चात उस कन्या एवं पुरुष का जीवन सदा खुशहाल रहता है, उनमें विरोध की स्थिति कम बनती है, एक दूसरे को समझते हैं, परिवार सुखी बनता है एवं श्रेष्ठ संतान की उत्पत्ति होती है। विवाह की आयु का निर्धारण भी सत्यार्थ प्रकाश में मिलता है– ''स्वयंवर की रीति की आर्यावर्त में परंपरा चली आती है, वही विवाह उत्तम है। वही विवाह उत्तम है। जब स्त्री पुरुष विवाह करना चाहें, तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर का परिमाण आदि यथायोग्य होना चाहिए, जब तक इनका मिल नहीं होता तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख होता है।''[11]

विवाह की आयु के निर्धारण के विषय में सर्वप्रथम आधुनिक काल में दयानंद सरस्वती ने ही सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है– 16वें वर्ष से लेकर 24वें वर्ष तक कन्या और 25वें वर्ष से लेकर 48वें वर्ष तक पुरुष का विवाह समय उत्तम है। इसमें जो 16 और 25 में विवाह करें तो निकृष्ट, 18 या 20 की स्त्री 30, 35 या 40

वर्ष के पुरुष का मध्यम, 24 वर्ष की स्त्री और 48 वर्ष के पुरुष का विवाह होना उत्तम है।''[12] उन्होंने विवाह की आयु को भी किसी देश के श्रेष्ठ होने का एक माध्यम बताया। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है– ''जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि श्रेष्ठ और ब्रह्मचर्य विद्या अभ्यास अधिक होता है, वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्या–गृहण और रहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है, वह देश दुःख में डूब जाता है क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्या के गृहण–पूर्वक विवाह के सुधार ही से– सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है।''[13] उनके अनुसार जब तक भारत में स्वयंवर प्रथा से विवाह होते थे तब तक भारत का विकास होता रहा है। ''जब तक किसी प्रकार सब ऋषि मुनि राजा, महाराजा, आर्य लोग ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ ही के स्वयंवर विवाह करते थे, तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य से विद्या का न पढ़ना बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता–पिता के आधीन विवाह होने लगा तब से क्रमशः आर्यावर्त देश की हानि होती चली आई है। ऐसे काम को छोड़कर सज्जन लोग पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह किया करें। विवाह वर्णानुक्रम से करें और वर्ण व्यवस्था भी गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए।''[14] विवाह के विषय में दयानंद सरस्वती जी ने बताया कि हमारे वेदों में आठ प्रकार के विवाह बताए गए हैं– ''इन आठ प्रकार के विवाहों में ब्राह्म विवाह सर्वोत्कृष्ट देव और प्रजापत्य, मध्यम, आर्ष, असुर और गंधर्व, निकृष्ट, राक्षस, अधम और पैशाच महाभ्रष्ट है।''[15] दयानंद ने विवाह के पूर्व के भी कुछ नियम बताएं हैं। जिस प्रकार विद्या गृहण एवं गृहस्थ के कुछ नियम होते हैं, उसी प्रकार विवाह से पूर्व भी कुछ नियम बताए हैं।

इस प्रकार उन्होंने विवाह से पूर्व भी कन्या एवं बालक के विषय में जानकारी एकत्र करने के लिए बताया है, शायद जो आज के समय में पूरी तरह से प्रचलित है। दयानंद जी के अनुसार यदि कोई मनुष्य केवल अपनी ही पत्नी के साथ प्रसन्न रहता है एवं प्रेम करता है, वह गृहस्थी भी ब्रह्मचारी सदृश है, जिस प्रकार रामायण में मिथिला नरेश जनक का वर्णन मिलता है। स्वामी दयानंद जी ने समाज में बाल विवाह होने को कारण स्त्रियों के विधवा होने का एक बड़ा कारण बताया है, यही कारण है कि उन्होंने विवाह की आयु के विषय में उसे समय चर्चा की जब इसकी ओर किसी का ध्यान नहीं जा रहा था। दयानंद जी ने विधवाओं के पुनर्विवाह का समर्थन नहीं किया है उनका मानना था कि यदि विवाहित स्त्री किसी अविवाहित पुरुष से विवाह करेंगी तो यह अन्याय है, किंतु यदि विधवा स्त्री के पुत्र प्राप्ति के बिना ही पति न रहे तो उसे नियोग प्रथा के द्वारा पुत्र की प्राप्ति करनी चाहिए, किंतु पुनर्विवाह नहीं करना चाहिए इसका एक कारण उन्होंने यह बताया कि वह पूर्ववत की भांति अपने पति को प्रेम नहीं कर सकती है।

भारतीय समाज में रूढ़िया, अंधविश्वास सब समय के साथ बाह्य आक्रमणों के साथ जुड़ते चले गए। स्वामी दयानंद जी ने पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृतियों को न अपनाएं जाने के लिए अनेक प्रयास किए वेदों पर भाष्य लिखे, गुरुकुलों की स्थापना की, आर्य समाज की स्थापना की, भारतीय वैदिक शिक्षा की महत्व पर जोर दिया। कोई मनुष्य जो भारतीय शिक्षित हो, भारतीय संस्कृति को जानेगा वह पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति की ओर झुकाव नहीं रखेगा।

संदर्भ–सूची :–

1. सत्यार्थ प्रकाश– स्वामी दयानंद सरस्वती, वैदिक साहित्य, अजमेर, 1995 पृ–14।
2. वही, पृ–13।
3. वही, पृ–14।
4. वही, पृ–15।
5. वहीं।
6. वहीं।
7. वहीं।
8. वही, पृ–20।
9. वही, पृ–23।
10. वही, पृ–38।
11. वही, पृ–43।
12. वही, पृ–41।
13. वही, पृ–42।
14. वही, पृ–44।
15. वही, पृ–48।

ꣻ★ꣻ

गोस्वामी तुलसीदास के काव्य में संगीतात्मकता

छविन्दर कुमार*

सारांश :– *भक्ति काल के सर्वश्रेष्ठ कवि व युग प्रवर्तक कहे जाने वाले तुलसीदास जी समन्वय, लोक मंगल, लोकमानस, लोकरक्षक तथा लोक संग्रह के कवि माने जाते हैं। वास्तव में उनका व्यक्तित्व महान था तो जाहिर है कि उनकी अनुभूति भी उच्चतम भावभूमि पर प्रतिष्ठित होगी और यही कारण है कि उनके गीतों में भावमयता और गंभीरता का स्वाभाविक समावेश दिखता है। अनुभूति ही गीत का प्राण है। यह अनुभूति रागात्मक होती है और जीवन के एक भावात्मक रूप को चित्रित करती है। भाव और विचारों का ब्यौरेवार चित्रण–जो अनुभूति की इकाई के लिए आवश्यक है, उनके सभी प्रगीत काव्यों में उपलब्ध होता है। निश्चय ही इनके काव्य में प्रगीत तत्वों की वास्तविक छाप देखने को मिलती है। उनके काव्य में प्रगीत तत्व अपने चरम व उत्कर्ष पर विद्यमान है। इन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम चंद्र जी भगवान के शील, शक्ति और सौंदर्य से संवलित अद्भुत रूप का गुणगान करते हुए लोक मंगल की साधना व्यवस्था के पथ को प्रशस्त किया है।*

प्रस्तावना :– युग पुरुष तुलसीदास जी ने जिस गीतिकाव्य सरिता को अपनी दिव्य अनुभूति से प्रवाहित किया है वह भारत की एक सुदीर्घ गीति परम्परा से ही संबंधित है। इसका विकास वैदिक युग से हुआ माना जाता है। वास्तव में 'सामवेद' प्रगीत काव्य का मूल स्त्रोत है। इनमें गेयता, माधुर्य का स्वर इत्यादि तमाम गुणों का समावेश दिखाई देता है। बौद्ध दर्शन पर दृष्टि डालें तो उसमें भी गेयता देखने को मिलती है। संस्कृत वांग्मय में गीतिकाव्य का पूर्ण विकास कालिदास के 'ऋतुसंहार' और मेघदूत में दिखाई देता है। यही धारा 'गाथा सप्तमी, अमरूक शतक और आर्या सप्तमी से होती हुई जयदेव के 'गीत गोविन्द' में परिलक्षित होती है। गीतगोविन्द का हर पद मधुर राग की स्वर लहरी से आप्लावित है। प्रगीत काव्य के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए जर्मन दार्शनिक हीगेल का माना है कि "जब कवि विश्वात्मा में अपनी आत्मा और लय से अपनी अंतरात्मा की रागिनी काव्योचित मधुरता एवं कोमलता संग सुनाता है तो उसे गीतिकाव्य कहते हैं। इतना ही नहीं हीगल ने व्यक्तित्व कीआत्माभिव्यंजना संग गीतात्मकता को भी गीत का महत्वपूर्ण अंग मानता है। इसी तरह छायावाद की आधार स्तम्भ कवयित्री महादेवी वर्मा जी के शब्द है– "सुख–दुःख की भावावेशमयी अवस्था का विशेष गिने चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीति है।''

तुलसीदास जी के गीतों में शास्त्रीय संगीत का पूर्ण रूपेण निर्वाह हुआ है। 'विनय पत्रिका' और 'गीतावली' में कई प्रकार की राग–रागिनियों का प्रयोग हुआ है। भावों की अभिव्यक्ति के लिए अनेकों राग–रागनियों का प्रयोग किया गया है। उनके प्रिय रागों में आसावरी, केदारा, कान्हरा, सोरठ, विलावल, जैतश्री इत्यादि है। वीर और रौद्र के लिए मारू तथा करूण एवं श्रंगार के लिए आसावरी राग का प्रयोग गीतावली के कई पदों में किया है। 'श्री कृष्ण गीतावली' में गोपियों की विरह वेदना का कुशल और सफल चित्रण सोरठ राग में हुआ है। इसी राग में दैन्य चित्रण 'विनय पत्रिका' में किया गया है। यह बात निर्विवाद सत्य है कि संगीत शास्त्र की दृष्टि से तुलसी के गीत शब्द प्रधान अधिक है, स्वर प्रधान कम। गीतिकाव्य की दृष्टि से तुलसीदास जी के साहित्य में ये ग्रंथ उल्लेखनीय माने जाते हैं– इनमें विनय पत्रिका,जानकी मंगल, पार्वती मंगल, कृष्ण गीतावली' रामलला नहछू इत्यादि है। उनके द्वारा रचित गीतावली तो संपूर्ण गीतिकाव्य ही है। इसमें पुत्र विरह में माताओं और शरणार्थी रूप में रावण भ्राता विभीषण की मनोदशा का चित्रण है। इसमें राम वन गमन के वक्त राम और भरत की भेंट का सुंदर वर्णन किया गया है। इसी संदर्भ में विनय पत्रिका की कुछ अमर पंक्तियां हैं–

हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हौ।
साधन धाम विबुध दुर्लभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हौ।।
कोटिहु मुख कहि जात न प्रभु के एक– एक उपकार।

***शोधार्थी, विद्यावाचस्पति, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धर्मधाला, हिमाचल प्रदेश।**

तदपि नाथ कछु और मांगिहौं दीजै परम उदार।।[1]

आत्मा के जिस संगीत को गोस्वामी तुलसीदास जी ने वाणी से निहारा है यह स्वयं में तमाम सौंदर्यबोध से मुखरित है। उनके काव्य में ह्रदय की बात की गई है और कहीं कोई कोलाहल नहीं अपितु ह्रदय वेदना को शांत करने का सामर्थ्य है।

अमूमन गोस्वामी जी के पद विभिन्न राग–रागनियों में बांधकर गाये जाते हैं जिसमें एक निश्चित परम्परा का निर्वाह नहीं दिखता है। उन्होंने गीतावली के 328 पदों में विभिन्न प्रकार के 18 रागों का 'कृष्ण गीतावली' के 61 मुक्तकों में 10 रागों का और विनय पत्रिका के 279 गीतों में 20 रागों का प्रयोग किया है। पुरातन गीतकारों की तरह उन्होंने भी स्वयं के प्रारम्भिक गीतों में राग का नाम लिख दिया है।

'विनय पत्रिका' गोस्वामी जी के कालखंड में रचित श्रेष्ठतम गीतिकाव्य का संग्रह है। यह कवि के अंतःकरण से निकली एक श्रेष्ठ कृति है। इसमें उन्होंने अभिव्यंजना को प्रमुखता दी है। वास्तव में गीति परम्परा की दृष्टि से विनय पत्रिका उत्कृष्ट ग्रंथ है। इसके आरम्भ में अनेक देवी–देवताओं का गुणगान स्त्रोत शैली में किया गया है। जैसे–

श्री राम चंद्र कृपालु भजमन हरण भव भय दारूणम।
नव कंज लोचन कंज मुख करकंज पद कंजारूणम।।[2]

विनय पत्रिका में आत्मनिवेदन की भावना भी अनेक पदों में है जैसे :

"तू दयालु दीन हौं तू दानि हौं भिखारी। हौ अनाथ पातकी तू पाप –पुंजहारी।।
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मो सो। मो समान आरत नहीं आरहत नहिं आरतहर तो सो।।
ब्रह्म तू है जीव हौं, तू ठाकुर हौं चेरो। तात, मात, गुरु,सखा तू सब विधि हितू मेरो।।[3]

दोहावली में जो दोहे हैं उन्हें गाकर मन शांत हो जाता है और आत्मा को सुकुन मिलता है, एक तरह के परमानंद की प्राप्ति होती है। कुछ पंक्तियां हैं–

"एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास।।[4]
सीया राम मय सब जग जानी। करऊं प्रनाम जोरि जुग पानी।।[5]

अर्थात संपूर्ण ब्रह्मांड में प्रभु श्रीराम का वास है, सबमें भगवान विद्यमान है और हमें उनको सदैव हाथ जोड़कर प्रणाम करना चाहिए। रामचरितमानस के बाल काण्ड की सुंदर पंक्तियां हैं जो हर किसी को कंठस्थ होती है और हर कोई इन्हें गुनगुनाता रहता है।

'मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवहु सुदसरथ अजिर बिहारी।।
राम सिया राम सिया राम जय जय राम।।
होहिं सोया राम रचि राखा। को कर तरक बढ़ाए साखा।। [6]

गोस्वामी तुलसीदास जी के काव्य में निश्चित परम्परा के निर्वाह के अभाव में भी संगीत मर्मज्ञता में एकरूपता का अभाव रहा है। अतः एक ही परम्परा के दो विभिन्न गायक किसी भी एक राग की व्याख्या पृथक्–पृथक् रूप में करते हैं।। उनके काव्य में गेयता के भिन्न–भिन्न रूप वास्तव में देखने को मिलते हैं।

गोस्वामी जी का व्यक्तित्व महान था अतः उनकी अनुभूति उच्चतम भावभूमि पर प्रतिष्ठित थी। यही कारण है कि उनके गीतों में भावमयता एवं गम्भीरता का स्वाभाविक समावेश है। यद्यपि गोस्वामी जी ने शास्त्रोक्त सभी भावों का निबन्धन किया है, परन्तु गीति काव्य की दृष्टि से अनुभूति का तारतम्य केवल करूण, श्रृंगार, वात्सल्य, भक्ति एवं वीर रस की अभिव्यक्ति में होता है। यही कारण है कि 'कवितावली' में परूष भावों की अभिव्यक्ति के कारण अनेक स्थलों पर प्रगीत तत्व के प्राधान्य का अभाव है। 'विनय पत्रिका', 'गीतावली' एवं 'श्री कृष्ण गीतावली' में कोमल भावों की सफल अभिव्यक्ति हुई है। श्री कृष्ण गीतावली' में तो 'रति' की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है लेकिन मर्यादा का ध्यान रखा है। गीतावली में धृति, चिन्ता, दीनता, मति, उत्सुकता, अभिलाषा, 'श्रीकृष्ण गीतावली' में चपलता, हर्ष, लज्जा तथा 'विनय पत्रिका' में समर्पण, दीनता,

निर्वेद, करूणा इत्यादि भावों की अभिव्यक्ति हुई है। गीतावली में तुलसीदास ने कौशल्या के ह्रदय में उपजते वात्सल्य का चित्रण निम्न पंक्तियों में किया है–

"सुभग सेज सोभित कौशल्या रूचिर ताप सिसु गोद लिए।
बार–बार विधुवदनि विलोकति लोचन चारू चकोर किए।।
कबहुं पौढ़ि पय पान करावति कबहुं राखति लाइ हिये
बाल केलि हलरावति पुलकति प्रेम–पियूष पिये।।[7]

डॉ. विश्वनाथ ने गोस्वामी जी के काव्य के बारे में कहा है कि तुलसीदास जी की पंक्तियां आम जन मानस को स्मरण है और हर रोज इनका उच्चारण करते हैं। ये उत्तरी भारत के हर देहात, क्षेत्रों, खेत खलिहानों, चौगानों में जल, धूल और वायु की भांति फैली हुई है। अवश्य ही इनका कारण उन पंक्तियों की मार्मिकता और दिव्यता है लेकिन इसमें गोस्वामी जी के ध्वनि प्रवाह का भी असाधारण योगदान है। तुलसीदास जी की पंक्तियों में वह रपटन और फिसलन है कि यदि उनका एक शब्द कंठस्थ हो जाए तो संपूर्ण पंक्तियां सुगमतापूर्वक स्मरण हो जाती है। पंक्तियां हैं

जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य।
श्री रघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषाण।
ते मतिमंद जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन।।[8]

गोस्वामी जी ने जिस गीति काव्य धारा को प्रवाहित किया है वह भारत की एक सुदीर्य गीति काव्य परम्परा से सम्बन्धित है। सामवेद से लेकर, सिद्ध नाथों तक और जयदेव व विद्यापति से लेकर गोस्वामीजी तक निर्बाध गति से यह गीत की पावन सरिता प्रवाहित हो रही है।

एक साधारण कवि के समान गोस्वामी जी के भाव भी परिवर्तित होते रहते हैं। इन्हीं विविध परिस्थितियों से प्रेरित होकर ही कवि अपनी अनुभूतियों को स्वरबद्ध करता है। जब कवि लोक के व्यक्तित्व संग अपने व्यक्तित्व को लीन कर देता है तभी उसकी अभिव्यक्ति शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है। गोस्वामी जी के प्रगीत काव्य की भी यही विशेषता है। विद्वानों ने इसी आधार पर गीतों का वर्गीकरण भी किया है। यथा प्रेम गीत, व्यंग्य गीत, युद्ध, उत्सव, श्रृंगार इत्यादि। गोस्वामी जी ने मुख्यतः मनुष्यता, सौन्दर्य भावना, सामाजिकता, प्रकृति इत्यादि को अपने गीतों में यथोचित स्थान दिया है। 'विनय पत्रिका' में कलियुग से त्रस्त आर्त मनुष्य की पुकार है इसलिए उसमें सामाजिक चेतना पर्याप्त रूप में विद्यमान है। 'कवितावली', 'गीतावली' तथा 'श्रीकृष्ण गीतावली' में सौन्दर्य तथा प्रेम का चित्रण है। 'गीतावली' में चित्रकूट का स्वतंत्र वर्णन है। अतः बाह्य और आन्तरिक प्रकृति का चित्रण गोस्वामी जी के गीतों में हुआ है।

भावों की तीव्रता तथा अनुभूति के एकान्त प्रभाव हेतु गीतों का संक्षिप्त होना भी आवश्यक है चूंकि गीत लम्बे होने से वो मधुरता और सरसता समाप्त हो जाती है। प्रगीत एक रेखाचित्र की भांति होता है और उसे एक ही चित्र द्वारा जीवन के अनुभूत क्षणों के भावों को चित्रित करना होता है। उसके लिए उसे अलंकारों, समासों तथा शब्द प्रयोग पर विशेष ध्यान देना होता है। गोस्वामी जी ने इन्हीं आधारों पर अपने गीतों में संक्षेप में ही भावों की अभिव्यक्ति की है। यह बात निर्विवाद सत्य है कि गोस्वामी जी को वर्णनात्मक शैली ही प्रिय है लेकिन फिर भी उन्होंने कुछ हद तक 'विनय पत्रिका' और 'श्री कृष्ण गीतावली' के अनेक पद संक्षिप्त और भावप्रवण है। विनय पत्रिका के कई पदों में गोस्वामी जी ने विचार को अनुभूति बनाकर प्रस्तुत किया है, जैसे– 'केसव कहि न जाइ का कहिए'। 'श्रीकृष्ण गीतावली' के समस्त पद संक्षिप्तता की दृष्टि से अत्यन्त सफल है। वर्णन मोह के कारण 'गीतावली' के कुछ गीत अवश्य लम्बे हो गये है, फिर भी इस दृष्टि में गोस्वामी जी काफी हद तक सफल हुए हैं।

पूर्व मध्यकाल (भक्ति काल) में संगीत को आम जनमानस के कंठ में प्रज्ज्वलित करने में गोस्वामी जी का विशेष योगदान रहा है। सर्वविदित है कि भक्ति और संगीत का शाश्वत सम्बन्ध रहा है। भक्ति प्रचार

हेतु तमाम कवि जनों ने संगीत तत्व को प्राथमिकता दी है। संगीतज्ञ कवियों ने न केवल अपनी स्वर साधना से भाषा को परिष्कार एवं मधुरता प्रदान की है बल्कि उन्होंने अपनी दिव्यता स्वरूप कविता को संगीत की श्रेणी में खड़ा किया है। यह उनकी अद्भुत एवं प्रख्यात प्रज्ञा का ही परिणाम है। स्वयं को कवि कहलाना इनका प्रयोजन कदापि नहीं रहा है। ये तो मात्र तत्कालीन अव्यवस्था से और हीन भावना से ग्रस्त आम जन मानस को सही व उम्दा पथ पर अग्रसर करना चाहते थे। यह बात निर्विवाद सत्य है कि ये संगीत भक्त पदगेयता के लिए जितने प्रसिद्ध हुए उतने ही उनमें निहित भक्ति के लिए भी हुए हैं।

पंडित ओंकारनाथ जी का कहना है कि भक्ति युगीन कवियों की विलक्षण प्रज्ञा स्वरूप ही इनके पद वास्तव में अद्वितीय है, अनुपम है। जैसे पवित्र भावनामय इन कवियों के पद है, वैसा ही तन्मयकारी है इनका संगीत। भक्ति और संगीत के शाश्वत सम्बन्ध पर स्वयं गोस्वामीजी ने कहा है– चौथी भक्ति मम गुन गन, करह कपट तजि गान।

गोस्वामी तुलसीदास जी के काव्य में अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं जिससे हम उनके बारे में उनकी संगीत रूचि का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। जैसे 'नागर नट चितवहि चकि, उठाहीं न ताल बंधान, बाज सुराग की गोडर ताली, मारू राग सुभट सुखदायी– रामचरितमानस।' सारंग, गुण, मलार, सोरठ, सुहव, सुघरण, बाजही– गीतावली। छंद, प्रबन्ध, गीत, राग, पद व ताल इत्यादि संगीत की पारिभाषिक शब्दावली का ही एक अंग है। सुहव मारू, सारंग, गुंडमल्हार, सोरठ इत्यादि शब्द उनके राग ज्ञान का परिचायक है।

गोस्वामी तुलसीदास जी अपने गीतों में आलंकारिक एवं व्यावहारिक दोनों भाषाओं का भावानुकूल प्रयोग करने में पूर्णतः सफल रहे हैं। अपने प्रगीत काव्य में उन्होंने अवधि का प्रयोग न कर गीत की पारम्परित ब्रज–भाषा का ही प्रयोग किया है जिसमें संगीतात्मकता और कोमलकान्तता अधिक है।

उपसंहार :– उपरोक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी सचमुच एक युगदृष्टा, महाकवि व भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि थे। इनके राम राज्य की कल्पना से वास्तव में महात्मा गांधी जी भी प्रभावित हुए थे। इनके अंतःकरण से निकली शब्दों की अमृतधारा में सहज ही संगीतात्मक लहरें उठती है। उनके संपूर्ण काव्य को पढ़कर या श्रवण कर हमें 'सत्यम शिवम सुंदरम' जैसा परम आनन्द मिलता है। भक्ति और संगीत का मणिकंचन संयोग इनके काव्य की विशिष्टता है। विनय पत्रिका के प्रथम पद में ही देखिए उन्होंने 'गाइए गणपति जग वंदन' लिखकर भक्ति के लिए संगीत की आवश्यकता पर विशेष ध्यान दिया है तथा 'मति अनुरूप राम गुन गाऊं में' स्वत गोस्वामीजी के गान को परिलक्षित करता है। इसी कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उन्हें हिन्दी साहित्य क्षेत्र में प्रथम पद का अधिकारी कहा है और डॉ. विजेन्द्र स्नातक ने उनको हिन्दी कविता कानन का सबसे बड़ा वृक्ष कहा है। ' निश्चय ही गोस्वामी तुलसीदास जी 'कलिकाल के वाल्मीकि' है।

संदर्भ–सूची :–

1. माता प्रसाद गुप्त, तुलसीदास, संस्करण वर्ष 1957, हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.सं. 44।
2. वही, पृ. स. 45।
3. वही, पृ.सं. 78।
4. माता प्रसाद, तुलसी संदर्भ, प्रथम संस्करण, विवेक कार्यालय, प्रयाग, पृ. सं. 47।
5. वही, पृ. सं. 49।
6. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पंचम संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ.सं. 51।
7. वही, पृ. सं. 52।
8. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, अंकुर प्रकाशन, वर्ष 1997, पृ.सं. 94।

'हद-बेहद' उपन्यास में देह से परे उपस्थित प्रेम की अभिव्यक्ति

डॉ. अमित कुमार*

केशव हिमाचल प्रदेश में जन्मे एक सुपरिचित और वरिष्ठ कहानीकार–उपन्यासकार हैं। कविता के क्षेत्र में भी उनकी कई कृतियाँ हमें देखने को मिलती हैं। 'रक्तबीज', 'फासला', 'अलाव' उनके कहानी–संग्रह हैं तो 'हवाघर' 'आखेट' और 'डेमन ट्रैप' उपन्यास। 'अलगाव', 'एक सूनी यात्रा', 'ओ पवित्र नदी', 'धरती होने का सुख', 'धूप के जल में' उनकी काव्य–कृतियाँ हैं। 'हद–बेहद' उनकी एक सद्य कृति है जो एक 'प्रेम–उपन्यास' के रूप में प्रकाशित हुई है। प्रेम उपन्यासों को पढ़ते हुए हम कई तरह की कल्पनाओं में खो जाते हैं। कुछ उपन्यास प्रेम के नाम पर ऐसी इबारतें परोसते हैं जिन्हें पढ़कर ऐसा लगता है कि उसे पढ़ना–न पढ़ना कोई मायने नहीं रखता। कुछ उपन्यास हमें अलग ढंग की दुनिया में ले जाते हैं।कृति पर 'प्रेम–उपन्यास' शब्द न भी लिखें हो तो भी अनेक उपन्यासों में प्रेम की अभिव्यक्ति के दर्शन हमें हो ही जाते हैं। प्रेम है ही ऐसा विषय कि जिसे व्याख्यायित करने के न जाने कितने सारे आयाम हमारे समक्ष मौजूद होते हैं। सबकी अपनी–अपनी परिभाषाएँ और अपनी–अपनी व्याख्याएँ होती हैं।

कक्षा बारहवीं के बच्चों से शुरू होता है उपन्यास 'हद–बेहद'। उससे पूर्व कृति में उद्धृत कबीर की ये पंक्तियाँ उपन्यास की कथा के भीतर जाने का रास्ता बनाती हुई दिखाई देती हैं–"हद चले सो मानवा, बेहद चले सो साध।/हद–बेहद दोऊ ताजे, वा को मता अगाध।।"[1] केशव ने संस्कार और इंदिरा के बहाने से यह कथा कही है। प्रारंभ में ऐसा लगता है कि एक विद्यालय में पढ़ने वाले दो विद्यार्थियों के लड़कपन में हुए दैहिक आकर्षण की कथा–मात्र है यह उपन्यास, लेकिन जैसे–जैसे हम कथा में आगे बढ़ते हैं, उन्हीं किशोर–किशोरी के जरिए प्रेम के वास्तविक अर्थों से साक्षात्कार होने लगता है। प्रेम में तब हमें देह के प्रति कोई आकर्षण दिखाई नहीं देता। देह के स्थूलकाय अर्थ की जगह यह उपन्यास देह से परे उपस्थित प्रेम के सूक्ष्म दर्शन को अभिव्यक्त करता है।

कबीर कई जगह इस उपन्यास की कथा में आते हैं। ऐसे में वे अतिरिक्त प्रतीत नहीं होते, बल्कि कथा के भीतर छुपे गूढ़ अर्थों को विस्तार देते हुए दिखाई देते हैं। अपनी प्रारंभ की मुलाकात में उपन्यास की मुख्य पात्र इंदिरा जब संस्कार से नाता जोड़ना चाहती है तो संस्कार आश्चर्यचकित होता है। उससे पूर्व भी संस्कार के जीवन में ऐसे कई प्रसंग आते हैं, जब किसी से वह इतना जुड़ाव महसूस करता है कि उनसे अलग होते हुए वह बहुत कुछ छूट गए की पीड़ा का अनुभव पाता है। संस्कार को इंदिरा का 'तो फिर हम साथ–साथ क्यों नहीं चल सकते ?'[2] कहना न केवल स्कूल भर तक साथ जाने का कथन है, अपितु वह तो जीवन भर के लिए संस्कार से साथ चलने का अनुरोध करती हुई दिखाई देती है। अपने पिता के तबादले के कारण संस्कार का इंदिरा के कस्बे में आना प्रेम के उस अंकुर का फूटना है, बिना ज़मीन के जो कब से मुरझा रहा होता है। ऐसा अंकुर नहीं जो केवल देहों के बीच पलता है, बल्कि ऐसा अंकुर जो देहों से परे होकर फलता–फूलता है। अपने परिचय की बेला में ही इंदिरा जब संस्कार से "अपना चेहरा साफ़–साफ़ देखना हो तो आईने पर जमी धूल को साफ़ कर लेने में हर्ज़ नहीं होता"[3] कहती है तो वह किसी पर प्रभाव ज़माने के लिए नहीं बोलती, बल्कि उसका वह वाक्य इंदिरा के जीवन के दृष्टिकोण को बयां करता है। इंदिरा और संस्कार के भीतर एक परिपक्वता है जो उन्हें सामान्य प्रेमी जोड़ों से अलग करता है।

इंदिरा के व्यक्तित्व की गढ़न में उसकी परिस्थितियों का उतना ही हाथ है, जितना कि संस्कार के व्यक्तित्व की निर्मिति में। बेशक इंदिरा एक उच्च जाति से संबंध रखने वाली युवती है और संस्कार निम्न

***सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़–123031 (हरियाणा)**

जाति में जन्मा युवक, लेकिन कहीं भी जाति का मुद्दा उपन्यास में हावी होता दिखाई नहीं देता। पिकनिक पर गए स्कूल के सहपाठी वरुण भले ही इंदिरा के मन में भेद पैदा करने को पूछने से नहीं चूकता–"संस्कार, तुम अपने नाम के साथ सरनेम क्यों नहीं लगते ?"[4] इंदिरा लेकिन इससे जरा भी प्रभावित नहीं होती, बल्कि खुद के सरनेम लगाने को वरुण के सवाल पर वह कहती है–"मैं लगाती हूँ। अब कभी नहीं लगाऊँगी अपना सरनेम। क्योंकि अगर मेरा शर्मा होना, ऊँचाई पर होना है तो मैं इस ऊँचाई को ठोकर मारती हूँ। मुझे ऐसी ऊँचाई नहीं चाहिए जिससे गिरना कभी थमता ही नहीं। मेरे लिए ऐसी ऊँचाई रेत का एक ढेर है जिसकी खोखली हस्ती को आँधी–बाढ़ कभी भी मिटा सकती है।"[5] इंदिरा केवल कहती ही नहीं, बल्कि ऐसा करके दिखाती भी है। अपने ही सरनेम को वह स्कूल के रजिस्टर से हटवा लेती है। ऐसा कहते हुए वह मनुष्यता की बात करती है। जातिगत दुर्भावना इस उपन्यास के भीतर उन लोगों में खूब देखी जा सकती है जो मनुष्य को भेद करके देखते हैं। ऐसे लोगों की दृष्टि समाज में बसे मनुष्यों तक नहीं पहुँचती। जातियाँ उनके लिए यहाँ–वहाँ इस तरह मौजूद हैं कि इससे परे उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं देता। भेद के चलते जिन्हें अक्सर किसी न किसी चीज से वंचित किया जाता है, वे तब उस समाज को स्वीकार नहीं करते, मुक्ति की जिसमें कोई गुंजाइश नहीं है। धर्म, जाति, कुल–गौत्र, ऊँच–नीच की असंख्य दीवारें मनुष्य को ही घेरने की बेड़ियाँ होती हैं। जातिवादी लोग इन्हीं को हथियार की तरह इस्तेमाल करते हैं। घृणा के बीज बो वे केवल अपने लिए ही संसार की कल्पना करते हैं। समाज इनके लिए बहुत संकुचित और कुंठित होता है।

संस्कार में इंदिरा अपने हिस्से की दुनिया तलाशती है। ऐसी दुनिया जिसमें उसकी एक जगह हो। संस्कार में वह अपने पिता, माता और बिछुड़ गए भाई के प्रेम को खोजती है। बारिश में भीगने से बचाने के लिए अपने दुपट्टे की परवाह किए बिना इंदिरा का संस्कार के प्रति प्रेम दिखाना कहीं न कहीं अपने खोए हुए को पा लेने की कोशिश ही होती है। पतंग लाने जाते समय बचपन में ही भाई का एक दुर्घटना में चले जाना इंदिरा के भीतर को उस समय और तोड़कर रख देता है, जब उसकी माँ उसे कहने में संकोच नहीं करती–"इसकी जगह तू क्यों नहीं मर गई नामुराद ?"[6] इंदिरा ऐसे समाज की कल्पना नहीं करती, जिसमें इनसानों की जगह सिर्फ़ जातियाँ बसती हों। संस्कार जहाँ शर्मिला है, इंदिरा वहीं दबंग। क्लास के एक लड़के यानी बिजूका द्वारा "क्यों न क्लास में संस्कार जैसे छोटी जात के लड़कों की कतार ही अलग कर दी जाए। फिर छूत–वूत भी पास नहीं फटकेगी" कहकर संस्कार की बेइज्जती करने की मंशा मार–पीट तक पहुँच जाती है। प्रिंसीपल के हस्तक्षेप से मास्टर राम सहाय द्वारा निष्पक्ष और प्रासंगिक समाधान उन साथी शिक्षकों को नहीं भाता, शिक्षण संस्थानों में होकर जो जातिगत भावनाओं में आकंठ डूबे हुए होते हैं। मामले में प्रिंसीपल का सवर्ण मानसिकता के साथ खड़ा होना उसूलों के पक्के मास्टर राम सहाय को विचलित कर देता है। अकेले होकर भी वे दोषी छात्रों के विरुद्ध कार्यवाही को अंजाम देते हैं। इंदिरा का संस्कार का हाथ पकड़कर नंगे सिर मैदान में दौड़ना उन्हीं जातिवादी छात्रों को अपने अपमान का बदला लेने का जरिया लगता है। घटना के तरह–तरह के विकृत विवेचन मास्टर राम सहाय के लिए संस्कार की पिटाई का आधार बनते हैं। इंदिरा के व्यक्तित्व का एक और पहलू यहीं देखने को मिलता है, जब वह संस्कार को पीट रहे उस शिक्षक की छड़ी पकड़ लेती है। अपने आज तक के शिक्षक जीवन में राम सहाय के लिए यह पहला अप्रत्याशित अनुभव होता है। मास्टर राम सहाय का दुनिया से नाराज़ और खुद से दुखी होना उनके अपने व्यक्तिगत अभावों और असफलताओं से पार न पा सकने की घुटन को ही दर्शाता है। इंदिरा उन्हीं के सामने संस्कार की न केवल हथेलियाँ सहलाती है, अपितु उन्हें चूम भी लेती है। इस तरह के कृत्य को अपराध कहकर मास्टर राम सहाय से वह स्वयं को पीटे जाने की ज़िद करती है।

अपने जीवन में इंदिरा उस प्रेम को पाने का प्रयत्न करती है, जिसकी कमी वह हमेशा महसूस करती है। प्रेम के सहारे वह अपने भीतर की ज़मीन को उर्वर बनाए रखना चाहती है। वह एक टूटी हुई डाल की बजाय हमेशा एक ऐसी डाल बने रहना चाहती है जो सदाबहार हो–"डाल पर भी मुरझा जाते हैं फूल। फूलदान में भी। लेकिन डाल अगर सदाबहार हो तो उस पर मुरझाकर भी फिर–फिर खिल उठते हैं फूल। जबकि फूलदान में एक बार मुरझाकर फिर कभी नहीं।"[7] दैहिक प्रेम न इंदिरा की प्राथमिकता है, न

संस्कार की। इंदिरा उस नैसर्गिक प्रेम की तलाश में है जहाँ देहों का मूल्य मन से बढ़कर कतई नहीं है। तमाम तरह की वर्जनाओं से मुक्त होता है सच्चा प्रेम। वर्जनाओं को महत्त्व देना और उन्हें बनाए रखना प्रेम के वास्तविक अर्थों को नकारना है। इंदिरा ऐसे किसी प्रेम को नहीं चाहती, वर्जनाएँ जहाँ बाधा बनकर उपस्थित होती हों। ऐसा होता तो फफोलों से भरी संस्कार की देह पर वह दावा लगाना स्वीकार नहीं करती। दवा लगा पाने में माँ की लाचारी देख इंदिरा का कहना "मैं लगा देती हूँ माँ जी"[8] संस्कार को हतप्रभ करता है– "सुनते ही संस्कार को तो जैसे काठ ही मार गया था। इसकी कतई उम्मीद नहीं थी उसे। उम्मीद क्या उसकी कल्पना से भी परे था इंदिरा का जड़ों तक को चौंका देने वाला यह इज़हार। ऐसा इज़हार न तो माँ की लाचारी की देन था, न संस्कार की शर्म की। न स्त्री–सुलभ स्वभाव की। न सिर्फ़ इनसानियत की। बल्कि इंदिरा की किसी ऐसी शाख की देन जो अब हरी होना चाहती थी। शायद बरसों सूखे की मार झेलने के बाद। हर सीमा को लाँघकर।"[9]

'अपने संस्कारों के कारण संस्कार प्रेम में देह को महत्त्व नहीं देता।'[10] देह यहाँ केवल और केवल ख़ूबसूरती का ही पर्याय नहीं होती। प्रेम में ख़ूबसूरती देह की बजाय कहीं और होती है। ख़ूबसूरती देह की जगह और कहाँ होती है, सवाल के जवाब में संस्कार का यह कहना देह और उसकी ख़ूबसूरती के अर्थों को स्पष्ट कर देता है–ख़ूबसूरती "देह में भी होती है। लेकिन सिर्फ़ देह तक ही नहीं। और यह भी कि उसे हम कहाँ से देखते और आत्मसात् करते हैं। मन से भी या सिर्फ़ इंद्रियों से ही। संभवतः इसी से तय हो सकता है ख़ूबसूरती का देह में होते हुए भी देहातीत होना। या सिर्फ़ देह तक सीमित रहना।"[11] केवल देह प्रधान होती तो संस्कार इंदिरा की देह में ही दिलचस्पी लेता दिखाई देता। इंदिरा को नहाते हुए देखना संस्कार को कहीं भी विचलित नहीं करता। देखना यूँ भी दृष्टि में मौजूद होता है–"...संस्कार को निर्वसनता में अटके रहना बिलकुल नहीं भा रहा था। वह तो उस निर्वसनता से निस्सृत सौंदर्य की आभा को ही आत्मसात् करना चाह रहा था। ऐसा नैसर्गिक सौंदर्य जो देह में घात लगाए बैठी यौन भावना की आग को हवा नहीं देता। अपितु उस आग को स्थिर और सौम्य बनाता है।...असल में देह कभी निर्वसन नहीं होती। उसे निर्वसन करती है देखनेवाली आँख। क्योंकि निर्वसनता देह में नहीं, आँख में होती है..."[12]

इंदिरा का यह प्रेम ही है जिसके कारण संस्कार के क़दमों की आहट वह अपने भीतर महसूस करती है। संस्कार से वह दैहिकता की सीमाओं को लाँघ मनुष्य की तरह जुड़ना चाहती है। इंदिरा और संस्कार प्रेम के बहाने से स्त्री–पुरुष के भेदों से मुक्ति चाहते हैं। रचनाकार इसके अर्थ इस प्रकार से खोलता है–"व्यक्ति और व्यक्ति, खासकर स्त्री और पुरुष के बीच विमुखताओं और दुर्भावनाओं की संभावना बनी रहती है।...इसके ठीक बरअक्स, मनुष्य और मनुष्य के बीच जो भी होता है, वह उदात्त और जीवनोन्मुखी। ऊर्ध्वगामी होते हुए भी, हर हालात में धरती के साथ अपना नाता जोड़े रखता है। जैसे पेड़ हर हालत में निभाता है धरती के साथ अपना नाता।"[13] उपन्यास की कथा में देह की ख़ूबसूरती और उम्र के बारे में पिकनिक पर मिले एक विदेशी युवक का यह कहना भी प्रेम में देह, उम्र के औचित्य पर प्रकाश डालता हुआ दिखाई देता है–"उम्र एक मुकाम तक तन की ख़ूबसूरती की दोस्त होती है। उसके बाद धीरे–धीरे दुश्मन बनने लगती है।...तन के साथ अगर मन भी ख़ूबसूरत हो तो समझो सोने में सुहागा। मन की ख़ूबसूरती सदाबहार होती है, यह एक सर्वविदित ही नहीं, सर्वमान्य सच्चाई है। इसमें अपनी ख़ूबसूरती में दुनिया की ख़ूबसूरती दिखाई देती है। जबकि इस पर अभिमान ख़ूबसूरती के चेहरे पर दाग़। जैसे चाँद पर।"[14]

प्रेम पाकर इंदिरा और संस्कार एक–दूसरे को पूर्ण महसूस करते हैं। संस्कार और इंदिरा के प्रेम में मुक्ति का आसमान शामिल है। एक–दूसरे के प्रति समर्पण की भावना यहाँ अधिक देखने को मिलती है–"तुमने मुझे वह सब कुछ दिया, जिससे मैं वंचित रही। वह भी पुरुष होकर नहीं, मनुष्य होकर दिया। पुरुष होकर दिया चुक सकता है। लेकिन मनुष्य होकर दिया कभी नहीं चुकता। क्योंकि वह रूह में रच–बस जाता है। ऐसा शख्स किसी चीज के लायक न हो, मैं नहीं मानती। फिर वह चीज मामूली–से–मामूली हो या असाधारण से असाधारण।"[15]

इंदिरा–संस्कार के अलावा और भी कई पात्र 'हद–बेहद' उपन्यास में आते हैं। सब अपनी–अपनी विशिष्टताओं के साथ कथा में जीते–जागते हैं। सब में देखें तो एक विशेषता है, वह यह कि सब अपनी–अपनी वर्जनाओं, हदों में क़ैद हैं। ऐसी क़ैदों में ये पात्र हैं जिनसे वे ता–उम्र आज़ाद नहीं हो पाते। मुक्ति का सपना न केवल संस्कार के पिता, माता, संस्कार के पीछे छूट गए सहपाठियों के मन में होता है, बल्कि इंदिरा के माता–पिता की दुनिया भी ऐसे ही किसी सपने की तलाश में खोयी–खोयी रहती है। प्रेम की ज़रूरत सबको है। उस प्रेम से कुछ इसलिए वंचित रहते हैं, क्योंकि वे हाथ बढ़ाकर दूसरे को अपनी दुनिया में नहीं ला पाते। केवल अपने लिए ही जीने में व्यस्त रहते हैं और धीरे–धीरे करके पूरी उम्र बिता देते हैं। अपने अंतरतम को खोलना तो दूर, कोई बात तक नहीं कह पाते। तब संस्कार के पिता की तरह डायरी में उस अव्यक्त को अभिव्यक्त करने की कोशिश होती है। सरकारी नौकरी की व्यस्तता और निरंतर तबादले व्यक्ति की कोई और ही छवि गढ़ देते हैं। कितनी तरह की दमित आकांक्षाएं व्यक्ति के भीतर छुपी होती हैं जो हमारे जीवन को अपने नियंत्रण में लिए रहती हैं। अपनी ही वर्जनाओं और संस्कारों की दृष्टि मुक्त आसमान को भी हदों में बाँध देती है। अतृप्ति दूसरों की परितृप्ति को भी ईर्ष्या और कुंठा में बदल देती है। यह अतृप्ति कई कारणों से हो सकती है। समाज के भीतर हमारी 'जगह' इसका कारण हो सकती है तो पीढ़ियों के बीच का अंतर हमें इस ओर ले जा सकता है। इंदिरा और संस्कार का अलग–अलग जातियों के होते हुए भी एक रात एक–दूजे का आलिंगनबद्ध होना उस व्यक्ति को भी मूक कर देता है जिसे हमेशा ही असंवेदनशील समझा गया। संस्कार के पिता द्वारा लिखी डायरी के बहाने ही हमें उस 'असंवेदनशील' की संवेदनाओं के बारे जानने को मिलता है–"हमारे भीतर कुछ चीजें वंशानुगत होती हैं। पीढ़ी–दर–पीढ़ी खून में रेंगती। उनसे मुक्त होना असंभव नहीं तो श्रमसाध्य ज़रूर होता है। अगर हम उसी लीक को पकड़कर चलते रहें तो जीवन को अपने ढंग से, अपने समय में, पूरी शिद्दत के साथ जीने के उपलब्ध अवसरों को जाने–अनजाने रुखसत करते रहते हैं। अंततः हम जीवन को ही रुखसत कर बैठते हैं।"[16] तमाम तरह की वर्जनाओं से मुक्ति की बात करता है सच्चा प्रेम। प्रेम में हम स्त्री–पुरुष होकर वह कुछ नहीं पा सकते जो मनुष्य होकर प्राप्त कर सकते हैं। गहरी तड़प के बावजूद संस्कार के पिता आधे–अधूरे रहते हैं–"मैंने अपने जीवन में औरत का प्यार कभी नहीं पाया। अलग–अलग तरह की औरतों के संसर्ग में रहने के बावजूद ।वह सिर्फ़ देह को चखने तक सीमित रहा। प्रेम के लिए मेरी गहरी तड़प के बावजूद किसी उदात्त भाव में अंकुरित नहीं हो पाया। आज मुझे लगता है कि कमियाँ मुझमें थीं, औरत में नहीं। क्योंकि मैं उनके पास एक मर्द की तरह जाता रहा। मनुष्य की तरह नहीं।"[17]

कइयों के जीवन में एक उम्मीद की तरह आता है संस्कार। संतोष और शकुंतला जैसी ठेठ गाँव की लड़कियाँ इसका उदाहरण हैं। संस्कार के कारण ही वे दोनों उस जगह तक घूम पाती हैं, जो उनके घर से इतनी दूर नहीं होती, कि जहाँ वे जा ही न सकें। जिस समाज में लड़कियों का लड़कों से बात करना तक संदेह की दृष्टि से देखा जाता हो, जहाँ बोलने तक की आज़ादी न हो, पिकनिक के बहाने खुली हवा में घूमना ज़िंदगी में मुक्ति के रंगों का अहसास करना ही है– "ऐसी दुनिया के जड़ और दमघोंटू माहौल में साँस लेती, गाँव के स्कूल में ग्याहरवीं तक पहुँची थीं मात्र यही दो लड़कियाँ। जिन्होंने रेलगाड़ी तो दूर आज से पहले मोटर तक नहीं देखी थी। ज़हीन होते हुए भी जिन्हें बारहवीं से आगे पढ़ाई जारी रखने की इजाज़त मिलेगी या नहीं ? नहीं मिलेगी, तो उन्हें किस खूँटे से जबरन बाँध दिया जाएगा ? निखरने का हर वह मौका छीनकर, जिसकी हक़दार थीं वे।"[18] डॉक्टर बनने के बावजूद नीलिमा अपनी वेदना को संस्कार के साथ बाँटना चाहती है, इसलिए कि उसे अपनी पीड़ा साझा करने के लिए कोई और दिखाई ही नहीं देता। डॉक्टर की बजाय नीलिमा नृत्यांगना बनना चाहती थी, जिसे उसके पढ़े–लिखे और डॉक्टर–इंजीनियर बने माता–पिता ने सिरे से ही ख़ारिज कर दिया था–"...नाच–गाना आख़िर मुजरा ही तो है। कोठे वालियों को ही सुहाता है। सभ्य परिवारों की बेटियों को नहीं। घर में जब तबले की थाप और घुंघरुओं की झंकार गूंजेगी तो हमारे खानदान की समाज में जो साख है उसका कोई नामलेवा भी नहीं रहेगा। चारों तरफ से थू–थू होगी। आज हुआ, सो हुआ। दोबारा इसका ज़िक्र तक नहीं होना चाहिए इस घर में। इसे मशविरा नहीं, पहली और आख़िरी चेतावनी समझना।"[19] अपने भीतर की मुक्ति की अभिव्यक्ति डॉक्टरी की पढ़ाई के

साथ–साथ नीलिमा नृत्य सीखकर करना चाहती है। नृत्य वह सीखती भी है और एक प्रस्तुति के बाद ही विवाह के बंधनों में बाँधे जाने का दंड परिजनों से प्राप्त करती है। हिदायतों और बंधनों का एक और पिंजरा जैसे उसका इंतज़ार करता है–"...इस घर में रहना है तो पैसे कमाओ। लेकिन सिर्फ़ डॉक्टरी के पेशे से। मुजरे को पेशा बनाकर नहीं। मैं तो इसी तरह स्वागत करता हूँ हर उस मेहमान का जो अपने साथ रोशनी का पैगाम लाने की जुर्रत करता है।"[20] संस्कार के समक्ष इसी भाव को नीलिमा अपने इन शब्दों में अभिव्यक्त करती है– "तब मुझे अहसास हुआ कि पिंजरा बदल जाने से पंछी की तकदीर नहीं बदलती। फिर चाहे एक पिंजरा चाँदी का और दूसरा सोने का ही क्यों न हो।"[21] ज़मींदार दौलेशाह की बेटी अंजना देह के सहारे अपने प्रेम को पाने की उम्मीद संस्कार से पाले रखती है। कह सकते हैं कि इस उपन्यास में देह ख़ूबसूरती का पर्याय नहीं है। देह बेशक समय की झुर्रियों से अंकित होती है, प्रेम लेकिन शाश्वत होता है। संस्कार, इंदिरा, नीलिमा, अंजना, संतोष, शकुंतला, संस्कार व इंदिरा के माता–पिता, मास्टर राम सहाय प्रेम की तलाश में ही दिखाई देते हैं। प्रेम से ही जाति–धर्म, देश–परदेश, रंग–वर्ण, लिंग–उम्र, नैतिकता–अनैतिकता, सीमाओं–रेखाओं जैसी धारणाओं से मुक्ति संभव है।

संदर्भ–सूची :–

1. केशव; हद–बेहद; राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली–110002; संस्करण : 2022; पृ. 5।
2. वही; पृ. 23।
3. वही; पृ. 26।
4. वही; पृ. 149।
5. वही; पृ. 150।
6. वही; पृ. 215।
7. वही; पृ. 49।
8. वही; पृ. 71।
9. वही।
10. द्विवेदी, शशिभूषण; हद–बेहद; केशव; राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली–110002; संस्करण : 2022; पृ. पिछला कवर पृष्ठ।
11. केशव; हद–बेहद; राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली–110002; संस्करण : 2022; पृ.115।
12. वही; पृ. 116–117।
13. वही; पृ. 129।
14. वही; पृ. 139।
15. वही; पृ. 218।
16. वही; पृ. 230।
17. वही; पृ. 231।
18. वही; पृ. 46–47।
19. वही; पृ. 64।
20. वही; पृ. 66।
21. वही।

ஐ★ௐ

मृणाल पाण्डे की कहानी 'लड़कियाँ'
(हाशिये के स्त्री समाज का दस्तावेज़)

प्रो. निर्मला ढैला बोरा*

''पश्चिमी अटलांटिक महासागर में फ्लोरिडा प्यूएर्टो–रिको बरमूडा, क्षेत्रों के बीच एक इलाका है, जिसे 'बरमूडा त्रिकोण' कहा जाता है। कई जहाजों तथा विमान को यह रहस्यमय ढंग से लील चुका है। रोचक तथ्य यह है कि इस विनाशकारी सुरसा–त्रिकोण के शिकार अपने पीछे कोई ऐसा चिन्ह नहीं छोड़ जाते, जिससे पता चल सके कि वे आखिर नष्ट हुए तो कैसे?[1] ऐसा ही लड़कियों को लीलने वाला बरमूडा–त्रिकोण उत्तर भारत के राजस्थान, हरियाणा, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश राज्यों से मिलकर बना है। सुप्रसिद्ध रचनाकार मृणाल पाण्डे अपनी पुस्तक 'परिधि पर स्त्री' में 1991 के दस साला जनगणना आंकड़े बहुल उत्तर भारत का विवरण देते हुए लिखती है कि इस क्षेत्र में एक हजार पुरूषों के पीछे मात्र 850 महिलाऐं पायी गयीं जबकि राष्ट्रीय औसत 1000 मर्दो के पीछे 929 स्त्रियों का ठहरता है, और शेष विश्व में स्त्रियों का औसत 1000 पुरूषों पर 1012 के लगभग है। यह अनुपात प्रश्न खड़ा करता है कि जब कुदरती तौर से पुरूष शिशु से अधिक जीवनी शक्ति कन्या शिशु में होती है, और संसार भर में स्त्रियों की उम्र दर पुरूषों से अधिक दिखती है, तो भारत के उत्तरी भाग में स्त्रियाँ इतनी कम क्यों हैं? इतनी बड़ी संख्या में वे कहाँ और कैसे बिना पीछे को साक्ष्य छोड़े लुप्त होती गयीं जबकि 1901 की जनगणना में तो 1000 पुरूषों पर 997 स्त्रियों का औसत था।

हिन्दी भाषी क्षेत्रों में अधिकांश बालिकाऐं जन्म के पहले पॉच सालों में मृत्यु को प्राप्त हो जाती हैं, क्योंकि इस दौरान वे जीवन रक्षा के लिए पूर्णतया परिवार पर निर्भर करती हैं। बालिकाओं की इस असामायिक मृत्यु के कारण केवल जैविक नहीं, वरन् आर्थिक व सांस्कृतिक भी है। इन इलाकों में कम से कम 40 प्रतिशत परिवार तभी परिवार नियोजन अपनाते हैं, जबकि उनके यहाँ कम से कम दो पुत्र हो चुके हों और इस दौरान तीन या चार लड़कियॉ हो भी जायें, तो परिवार वालों को उनकी परवाह नहीं होती– ''खर–पतवार की तरह वे ज्यों–त्यों पलती जाती हैं। इन लड़कियों की पोषाहार सम्बन्धी पड़ताल से प्रमाणित होता है कि उनमें से अधिकतर पारिवारिक उपेक्षा तथा कुपोषण की शिकार है। ऐसा भी नहीं, कि यह स्थिति मात्र अशिक्षित–गरीब परिवारों की ही हो। यूनिसेफ के लिए किये गए मोनिका दास गुप्ता के शोधकार्य से स्पष्ट होता है कि हिंदी क्षेत्र में प्रायः सभी माता–पिता बेटियों की अपेक्षा अपने बेटों के लालन–पालन और शिक्षा को तरजीह देते हैं।''[2] अब भले ही कन्या शिशु को जन्म लेते ही प्रसव–गृह में न मारा जाता हो, लेकिन पोषण, चिकित्सा और लालन–पालन में आज भी उनकी उपेक्षा की जाती है।

रचनाकार एवं निबन्धकार मृणाल पाण्डे अपने निबन्धों, उपन्यासों एवं कहानियों के माध्यम से स्त्री जीवन की कड़ियों को खोलते हुए अपने नाना प्रकार के अनुभवों को साझा करती हैं। उन्होंने स्त्री–जीवन के हर पहलू को टटोला है और स्त्री–मनोदशा का काल्पनिक अंकन ही नहीं किया बल्कि राजनीतिज्ञों, समाज–सेवी संगठनों एवं धर्मावलम्बियों को राह भी दिखाई है। लेखिका की बहुचर्चित कहानी लड़कियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

''लड़कियाँ'' कहानी सिर्फ कहानी नहीं है, बल्कि हमारी रूढ़ियों, परम्पराओं और संस्कृति को ढोये चले जाने का वृतान्त है, 'यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' से लेकर 'ढोल गंवार, शूद्र, पशु, नारी यह सब ताड़न के अधिकारी' तक। दोहरे मानदण्ड वाले सामाजिक ढॉचे के घर–घर में घटित होने वाली यह कहानी 'लड़कियाँ' कई सवाल पीछे छोड़ती जाती है। कहानी में तीन पीढ़ियॉ दिखाई देती हैं। पहली पीढ़ी की नानी, दूसरी पीढ़ी की माँ और तीसरी पीढ़ी की लड़कियाँ जिसमें नैरेटर यानि लेखिका भी शामिल है। पीढ़ी–दर–पीढ़ी थोड़ा वैचारिक परिवर्तन दृष्टिगत होता है। इस वैचारिक परिवर्तन के केन्द्र में नारी है जो सदैव परिधि पर रखी जाती है। तीन पीढ़ियों की अपनी चिन्ताऐं–अपनी फिक्र है। नानी मायके आयी गर्भवती बेटी को लेकर फिक्रमंद है। उसे आशंका है कि कहीं इस बार भी बेटी को लड़की हो गयी तो? वह देवी से हाथ जोड़ते हुए कहती है–''हे देवी, मेरी लाज रखना, इस बार यह मायके से लड़की लेकर न जाये।''[3] लड़की पर सैकड़ों पाबन्दियॉ लगायी जाती

***हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, डी0एस0बी0 परिसर, कु0वि0वि0, नैनीताल।**

हैं, उससे बार–बार कहा जाता है कि उसका लड़की का जन्म है और उसे जिन्दगी भर झुकना है। उससे अपेक्षा की जाती है– वह विनम्र रहे, क्रोध न करे, बड़ों से अदब से पेश आये, वही घर की लाज है आदि–आदि लेकिन वहीं, कहानी में नानी की लाज तभी रहेगी जब उसकी बेटी उनके घर से पुत्र लेकर जायेगी। नानी की इस धारणा के पीछे पूरा का पूरा एक सामाजिक मनोविज्ञान है। बेटों वाली माँ और सिर्फ बेटियों वाली माँ की सामाजिक स्थिति के अन्तर को वह जानती है बल्कि कहना होगा कि उसका पुरजोर समर्थन करती है, अपने साथ बेटे के पुत्र को सुलाकर, क्योंकि जीवन और मृत्यु से सम्बन्धित कर्मकाण्डों सहित उत्तराधिकारी के रूप में नानी का पुत्र की चाह करना स्वाभाविक है। नानी को एक भय और सता रहा है कि अगर इस बार भी उनकी बेटी इच्छित सन्तान लेकर उनके घर से नहीं गयी तो इस बात का सारा दोष, हो सकता है कि मायके पर ही मढ़ा जाये, जैसा कि अमूमन होता है। दूसरी पीढ़ी की माँ यानि नैरेटर की माँ के लिए पुत्र की चाह में बार–बार गर्भवती होना अब एक मुसीबत बन गया है। इस मुसीबत से उसका छुटकारा तभी होगा जब उसको पुत्र हो जायेगा। उसका क्लान्त होकर यह कहना है कि 'इस बार लड़का हो जाता हो छुट्टी मिलती बार–बार की यह मुसीबत'[4]–उसके उस दारूण कष्ट को दिखाता है जिसे वह पुत्र प्राप्ति के लिए बार–बार झेलने के लिए विवश है और परिणाम के प्रति सशंकित भी है। अपनी विवशता और संदेह में जीती उस माँ को हर बात में मुसीबत ही नजर आती है। लेखिका एक स्थान पर लिखती है–''माँ को वैसे भी हर चीज के अन्त में मुसीबत ही नजर आती है। हम लोग घर में होते हैं तो मुसीबत, स्कूल में होते तो मुसीबत, बीमार होते तो मुसीबत, भले चंगे उझलते कूदते तो मुसीबत''[5] माँ का लड़की को 'मुसीबत की जड़' कहना भी उसकी विवशता को दर्शाता है। मुसीबत की जड़ ये लड़कियॉ ही हैं। कम से कम माँ की मुसीबत की जड़ तो ये लड़कियाँ ही हैं जो जन्म लेते लेते नहीं थकती। तीसरी पीढ़ी उस अबोध बालिका की है जो उत्तराधिकार की सामाजिक अवधारणा से नितान्त अनभिज्ञ है। उसके मस्तिष्क में लिंग भेद के लिए कोई जगह नहीं है। उसके लिए हर स्थिति अस्पष्ट है। वह नहीं जानती कि लड़कियों को क्यों अच्छा नहीं माना जाता। उसकी नानी, उसकी मामी, उसकी मौसी सभी बार–बार यही क्यों दोहराते हैं कि माँ के बेटा होना चाहिए। इस क्यों का जवाब ढूँढने के लिए वह छुपकर बड़ों की बातें सुनती है। यह क्यों ही है तो उसे विद्रोही बना देता है।

लड़कियों के साथ होने वाले इस भेद–भाव से नैरेटर की बड़ी बहन भी मन ही मन सुलगती रहती है, लेकिन जीवन के व्यवहार से उसका थोड़ा बहुत परिचय हो चुका है। इसलिए वह अपनी कुढ़न को भीतर ही भीतर दबा कर नानी से 'लाखों की लक्ष्मी' का फालतू और घिसा–पिटा खिताब हासिल करती है। लेकिन लेखिका की अवस्था कम है और उसके भीतर का आक्रोश अधिक है। यही आक्रोध और क्रोध उसे जिद्दी बना देता है। वह छोटी बहन को समोसे से गिरे आलू का कीड़ा बनाकर डराती है, चप्पल से उसका पैर दबा देती है। मामा के लड़के को चिकोटी भर देती है। बच्चों को चुड़ैल, भूतों की कहानी सुनाकर डराती है। रेलगाड़ी के खेल में उसका इंजन बनना और माँ का यह कहना कि 'अभी बनाती हूँ तुझे इंजन' बड़ा ही सांकेतिक है। लड़कियों के भीतर की नेतृत्व क्षमता पर पहले पायदान पर ही कैसे रोक लगा दी जाती है– कहानी यह कहती है। अबोध बालिका कन्या–पूजन की अवहेलना कर मानो समाज को बता रही है कि इस ढोंग की कोई जरूरत नहीं है। बहुत हो चुका–साल में एक दिन देवी बनाकर जिन्दगी भर उससे देवी तुल्य गुणों की अपेक्षा कर उसे महानता के सलीब पर चढ़ाने का नाटक अब बंद होना चाहिए–'नहीं बनना मुझे देवी'– कह कर मानो वह पूरी सच्चाई और ईमानदारी से स्वाभाविक जीवन जीना चाहती है, जिसमें दोहरे मानदण्डों की चक्की में उसे न पीसा जाय।

कहानी में नानी और माँ की पुत्र के लिए तीव्र लालसा एक प्रश्न शूल की तरह उठाती है कि क्या औरत ही औरत के जन्म से घृणा करती है या कन्या को जन्म देकर उसे अपनी सामाजिक स्थिति में गिरावट नजर आने लगती है या जीवन में निरन्तर प्रतारणा झेलने के कारण वह इस स्थिति में पहुँच गई है कि कन्या के जन्म की संभावना मात्र से वह कॉप जाती है। अपने निबंध संग्रह 'परिधि पर स्त्री' में एक स्थान पर मृणाल पाण्डे लिखती हैं–''बेटियों की ऐसी उत्कट अवमानना के पीछे आर्थिक वजह ही नहीं है। सामाजिक दृष्टि तथा सांस्कृतिक परम्पराओं का एक गठबंधन भी है। बेटे की चाह के पीछे (वंश चलाने तथा बुढ़ापे में सहारा बनने या मुखाग्नि देने जैसी) जो सांस्कृतिक या भावनात्मक अवधारणाएं अमूमन हैं, वे आज के उत्तरी–भारत के ग्रामीण तथा काफी हद तक कस्बाई तथा शहरी भी समाज तथा अर्थ व्यवस्था में हिंसा की बढ़ोत्तरी से भी सीधे जुड़े हुए हैं। 1989 में प्रकाशित एक शोध (मिलर) के अनुसार उत्तर भारत में आज सिंचाई, जमीन तथा चकबंदी के उलझे

मामलों, को सुलझाने में प्रायः हिंसा का सहारा लिया जाता है। इसमें बाप का हाथ बेटे मजबूत करते हैं। आज गाँवों में जिसके अनेक जवान बेटे हों, ऐसे व्यक्ति अपनी तथा अपनी सम्पत्ति की रक्षा में अपेक्षतया समर्थ तथा बल–सम्पन्न माना जाता है और जहॉ कानून की बजाय प्रायः डंडे का ही राज चल रहा है, वहां नैतिकता की बजाय भुजबल का ही सम्मान होता है। यह हिंसक वातावरण स्त्रियों का सबसे बड़ा अवमूल्यक है।''[6]

बाह्य व्यवहार में हम भले ही एक सहिष्णु तथा हिंसाविहीन समाज होने का दावा करें लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि हमारे परिवारों के भीतर तथा बाहर राजनीति में चुनाव से चोर–बाजारी तक और स्त्रियों से छेड़–छाड़ से लेकर भूमि–अधिग्रहण तक सारे मसले प्रायः शारीरिक बल और जोर–जबर्दस्ती से ही हल किये जाते हैं, कानूनी प्रक्रिया या भीतरी पारिवारिक बातचीत से नहीं। इसी बिंदु से हमें कन्या–शिशु ग्रासी बरमूदा त्रिकोण की जड़ उत्कट असामाजिक हिंसा में दिखने लगती है।

आज हम राजनीति में नारी की सक्रिय भागीदारी की बात करते हैं, लेकिन उससे पहले यह निश्चित करना होगा कि क्या सामाजिक रूढ़िवादिता के दायरे से निकलकर हमारी सोच इतनी पक्की हो गई है कि हम अपनी संतति को उत्तराधिकार के नहीं बल्कि समानता के चश्मे से देखें। आजकल अल्ट्रासाउण्ड द्वारा लिंग–निर्धारण हालांकि गैर कानूनी हो चुका है, लेकिन फिर भी इसकी वजह क्या है कि कई राज्यों में लिंगानुपात असमान है। वजह बताती हैं मृणाल पाण्डे– ''इधर हाल में गर्भ–जल–परीक्षण द्वारा गर्भस्थ भ्रूण का लिंग पता करने तथा कन्या भ्रूण का कोख में ही अस्तित्व मिटा देने के लिए (गैर कानूनी तौर से) अम्नीयोसेंटेसिस तकनीक के प्रयोग के मामले लगभग सभी राज्यों से प्रकाश में आये हैं। कन्या हत्या के इस व्ययसाध्य तरीके का प्रयोग बहुधा शिक्षित शहरी मध्यवर्ग द्वारा ही हो रहा है। मुंबई के एक अस्पताल में ऐसे गर्भपातों के सर्वेक्षण से पता चला है कि वहां 800में से 799 नष्ट किये गये भ्रूण कन्या शिशुओं के ही थे। कुछ लोग इसकी वजह दहेज को मानते हैं, पर पंजाब जैसे समृद्ध प्रान्त में किये गये शोध के रिकार्ड भी बताते हैं कि वहाँ की अधिकतम माताऐं एक भी बेटी नहीं चाहती और दूसरी बेटी तो कोई भी नहीं।''[7] इसके पीछे धारणा यह बनती है कि नारी ही नारी की दुश्मन है। यह धारणा कितनी सही है यह देखना है–''क्यों नारी को नारी का शत्रु मानने का ही इतना गलाफाड़ प्रचार होता है, जबकि कसौटी महायुद्ध हों या कि अदालती मुकदमेबाजी या फिर (हर देश के) साहित्य में पिता–पुत्र संबंधों की अभिव्यक्ति, जितनी तल्ख–कड़वी और मारक टकराहटें वहाँहमें अनादिकाल से पुरूषों के बीच होती दिखती हैं, और किसी के बीच नहीं। फिर दो मनुष्यों के बीच का टकराव जितना उनके व्यक्तित्व पर निर्भर नहीं करता, उतना करता है उनकी स्थिति पर। जेल के कैदियों के बीच, जंजीर से बंधे पालतू कुत्तों के बीच, मालिक के अनुशासन तले पशुवत् जीवन बिताते बॅधुवा मजदूरों के बीच भी परस्पर तीखी घृणा तथा हिंसा का प्रदर्शन आम है। उनके द्वेष दूसरे के प्रति आक्रोश से नहीं खुद अपने प्रति, अपनी पराश्रयी हीन स्थिति के प्रति एक उत्कट आत्मघृणा से उपजते हैं। पराधीन जो भी होगा उसे चूंकि सपनेहुँ सुख नहीं मिलेगा। अतः वह दूसरों को भी सुख क्यों देना चाहेगा।''[8] यही पराधीनता की टीस 'लड़कियाँ' कहानी की नानी और माँ में दिखाई देती हैं। लेकिन बालिका के माध्यम से लेखिका ने विद्रोह का परचम फहराने का प्रयास किया है और यहीं साहित्यकार के सरोकार का प्रश्न आता है कि क्या उसकी रचना में इतनी धार है कि वह विद्रोह की इस मुद्रा को पैनापन दे सके। 'लड़कियाँ' कहानी आरम्भ में परम्परा के सिलसिले से जुड़कर अन्त में परम्परा का विद्रोह तय करती है, और आधी आबादी के लिए तिहाई प्रतिनिधित्व को अन्ततः स्वीकृति देती है।

संदर्भ–सूची :–

1. परिधि पर स्त्री : मृणाल पांडे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ संख्या 98।
2. वही, पृष्ठ संख्या 99।
3. चार दिन की जवानी तेरी (लड़कियां): मृणाल पांडे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995, पृष्ठ संख्या 15।
4. वही, पृष्ठ संख्या 16।
5. वही, पृष्ठ संख्या 13।
6. परिधि पर स्त्री, पृष्ठ संख्या 100।
7. वही, संख्या 99।
8. वही, पृष्ठ संख्या 8।

ꕥ★ꕥ

'पद्मावती समय' : काव्य सौंदर्य एवं चरित्र-चित्रण

डॉ. तेजपाल सिंह*

'पद्मावती समय' 'पृथ्वीराज रासो' का बीसवाँ समय अर्थात् अध्याय है। समुद्र शिखर नाम का विशाल दुर्ग था। यह दुर्ग पूर्व दिशा में स्थित था। विजयपाल यहाँ का राजा था। वह यादव वंशी था। विजयपाल यशस्वी एवं शक्तिशाली राजा था। राजा विजयपाल की पत्नी का नाम रत्नसेन था। इनकी पुत्री का नाम पद्मावती था। पद्मावती अपार सुंदरी और आकर्षक थी। सुर, नर, पशु–पक्षी, जड़ चेतन सभी उसके सौंदर्य पर मोहित थे। वह चौंसठ कलाओं, चौदह विधाओं तथा छः अंगों में निपुण थी। पद्मावती एक दिन राजभवन के उद्यान में भ्रमण कर ही थी। वहाँ उसने एक तोता देखा वह उस तोते पर मोहित हो गई। पद्मावती ने उस तोते को पकड़ लिया और अंतःपुर में ले जाकर सोने के पिजड़े में बंद कर दिया। उस तोते ने शंकर पार्वती से प्रार्थना की कि पद्मावती का विवाह पृथ्वीराज चौहान से हो।

एक दिन पद्मावती ने तोते से पूछा कि वह किस देश का रहने वाला है और उस देश का राजा कौन है? तोते ने कहा कि हिंदुस्तान में दिल्ली नाम का एक गढ़ है। उस गढ़ का राजा पृथ्वीराज चौहान है। वह सांभर के चौहान वंश का सोलह वर्ष का नवयुवक है। उसने गजनी के सुल्तान शहानुद्दीन गौरी को तीन बार बंदी बनाकर छोड़ दिया। तोते द्वारा पृथ्वीराज का वर्णन सुनकर पद्मावती रोमांचित और पृथ्वीराज के प्रति आसक्त हो गई।

पद्मावती के युवा होने पर उसके पिता ने राजपुरोहित के माध्यम से शिवालिक पर्वत श्रेणी में कुमाऊँ नामक दुर्ग के राजा कुमोदमणि से उसका रिश्ता तय कर दिया। जब पद्मावती का विवाह तय होने की सूचना प्राप्त होती है। वह पत्र लिखकर तोते के माध्यम से पृथ्वीराज को भेज देती है। पृथ्वीराज अपने सैनिकों के साथ समुद्र शिखर की तरफ रवाना हो जाते हैं। राजा कुमोदमणी बारात लेकर समुद्र शिखर किले की तरफ बढ़ते हैं। पृथ्वीराज का विजयपाल और कुमोदमणी की सेना से युद्ध होता है। पृथ्वीराज दोनों को पराजित कर दिल्ली वापस लौटता है उधर शहाबुद्दीन भी हमला कर देता है। पृथ्वीराज शहाबुद्दीन को मार देता है और दिल्ली में एक मंदिर में पद्मावती के साथ विवाह करता है।

पद्मावती समय का कथानक इतिवृत्तात्मक है। इतिवृत्तात्मक कथानक के भीतर अनुभूतिपूर्ण मार्मिक स्थलों की भरमार है। इस समय में वीर रस की वेगवती धारा प्रवाहित हुई है। सौंदर्य वर्णन और श्रृंगार रस की कोमल कल्पनाओं ने सजीवता ला दी है। पद्मावती चन्द्रमा की सोलह कलाओं से परिपूर्ण है। उसके रूप में मानों कामदेव की पत्नी रति को ही बना दिया है –

> ''मनहुं कला ससि भान, कला सोलह सो वन्निय।
> बाल बेस ससि ता समीप, अंम्रित रस पिन्निय।।''[1]

पद्मावती के रूप सौंदर्य वर्णन के पश्चात् कथा आगे बढ़ती है। पद्मावती बाग में साखियों के साथ खेलती हुई एक तोते को पकड़ लेती है। तोते से पृथ्वीराज के शौर्य और सौन्दर्य का वर्णन सुनकर पद्मावती उसके प्रेम में पड़ जाती है। पद्मावती गौरी पूजन के लिए शिव मंदिर में आ जाती है। पृथ्वीराज को देखकर वह स्नेह शिथिल हो जाती है –

> ''फिर देखि–देखि प्रथिराज राज, हंस मुद्ध युद्ध कर पट्ट लाज।''[2]

युद्ध वर्णन के रूप में वस्तु वर्णन बड़ा सजीव हुआ है। पद्मावती समय में इतिवृत्तात्मकता और रसात्मकता का सुंदर समन्वय् है।

पद्मावती समय में वीररस अंगी एवं प्रथम है। कथानक के उत्तरार्द्ध में दो युद्ध होते हैं। पहला विजयपाल और कुमोदमणी से पृथ्वीराज का युद्ध होता है। पृथ्वीराज के समुद्र शिखर से वापस लौटते हुए शहाबुद्दीन गौरी से होता है। पद्मावती की विरह–व्याकुलता पूर्वराग जनित विरद के अतर्गत है। पद्मावती

***सहायक प्राध्यापक–हिंदी, सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय, एस. एस. जे. परिसर, अल्मोड़ा (उत्तराखण्ड)।**

समय में श्रृंगार रस, वीर रस का सहायक बनकर उपस्थित हो गया है। युद्ध वर्णन में भयानक, रौद्र और वीभत्स रसों की व्यंजना है। युद्ध प्रारंभ के साथ ही युद्धोत्साह बढ़ता जाता है। योद्धाओं द्वारा अस्त्र–शस्त्रों का प्रयोग मारकाट वीर दर्प पूर्ण हुंकार, योद्धाओं और हाथी घोड़ों की भगदड़ आदि का ओजस्वी वर्णन हुआ है। भाषा की प्रावाहिकता युद्ध वर्णन को प्रवाह और सजीवता प्रदान करती है।

गही तेग चहुआन हिन्दवान रानं।   गजं जूय परि कोप केहरी समानं।
करे रूण्ड–मुण्ड करी कुंभ फारे। वर सूर सामतं हूकि गर्ज मारे।
करी चीह चिक्कार कलप भग्गे। मदं तंजियं लाज उमंग मग्गे।
दौरि गज अध चहुआंन केरी। घेरियं गिरद्दम चक्क फेरो।
गिरद्दम उड़ी भांन अंधार रैनं। गई सूधि सूझझै नहीं मझिझ नैनं।
सिरं नाय कम्मान प्रथिराज राजं पकरिये साहि जिम कुलिंग वाजं।।[3]

अतः वीर रस की अभिव्यक्ति की दृष्टि से पद्मावती समय बहुत ही सफल समय है। पद्मावती समय में श्रृंगार रस, वीररस का सहायक है। संयोग–श्रृंगार और विप्रलंभ श्रृंगार दोनों ही प्रकार के अनुभूति पूर्ण वर्णन पद्मावती समय में मिलते हैं।

सुनत श्रवन प्रथिराज जस, उमग बाल विधि अंग।
तन–मन–चित् चहुवांन पर, बस्यो सु–रत्तह रंग।[4]

पद्मावती की पूर्वराज जनित विह्लता, तड़पन व्यथा और प्रतीक्षा का बड़ा मार्मिक वर्णन हुआ है–

पद्मावती बिलषि वर बाल बेली। कही कीर सों बात तब ही अकेली।
झटं जाहु तुम दिल्ली सुदेसं। बरं–चहुआंन जु आनौ नरेस।।'[5]

पद्मावती समय में श्रृंगार की परिणिति मिलन में होती है। पृथ्वीराज पद्मावती का हरण करके उससे विधिवत विवाह करते हैं।

काव्य के कलापक्ष के अंतर्गत छंद, अलंकार, रीति, गुण, भाषा आदि आते हैं। छंद योजना की दृष्टि से पद्मावती समय सफल रचना है। छंदों का प्रयोग प्रसंग, भावों के अनुकूल हुआ है। चन्दरवाई ने छप्पय, दूहा, गाथा, पद्धरी और भुंजगी छंदों का प्रयोग पद्मावती समय में किया है।

पद्मावती समय में शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों प्रेकार के अलंकारों का प्रयोग हुआ है। ''पद्मावती विलषि वर बाल–बेली'' अनुप्रास अलंकार –

वर गोरी पद्मावती, गहि गोरी सुरतांन।
निकट नगर दिल्ली गए, अन्न भुजा चहुआन।'' **यमक अलंकार**

अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग हुआ है –

सेत वस्त्र सोहैं सरीर, नष स्वाति बूँद जस।
भ्रमर भंवहि भुल्लहि सुभाष मकरंद वास रस।'' **उपमा अलंकार**
चौहान हथ्य बाला गहिय, सी ओपन कवि चन्द कहि।
मानों किलत कंचन लहरि, मत्त वीर गजराज गहि।'' **उत्प्रेक्षा अलंकार**
'ज्यों रूकमीन कान्हर वरी, त्यों वीर संभरि कांत
शिव मंडप पछिछम दिशा। पूजि समय से–प्रांत।। '**दृष्टांत अलंकार**

पद्मावती समय की भाषा पिंगल है। यह भाषा आधुनिक ब्रज भाषा के निकट है। भावरस, एवं पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग सर्वत्र हुआ है। शब्द–चयन, पद–प्रयोग की सार्थकता, भाव–प्रतिफल ध्वन्यात्मकता तथा काव्य सौंदर्य की दृष्टि से पद्मावती समय की भाषा सफल है।

पद्मावती समय वीरगाथा काव्य है। इसके सभी पात्र शौर्य और पराक्रम के अवतार हैं। पृथ्वीराज नामक और पद्मावती नायिका है। पृथ्वीराज के प्रतिद्वंद्वी कुमोदमणी और विजयपाल भी पराक्रमी चरित्र है। पद्मावती समय में पृथ्वीराज चौहान, विजयपाल, कुमोदमणी, शहाबुद्दीन, पद्मावती समुद्र शिखर के राजा विजयपाल की रानी पद्मसेन की पुत्री है। बाग में सखियों के संग क्रीड़ा करते हुए उसकी दृष्टि एक शुक पर पड़ती है। शुक उसके अधरों को बिम्बाफल समझकर झपट्टा मारता है। पद्मावती उसे पकड़कर के लाती है और स्वर्ण–पिजर में बंद करके रखती है। शुक पृथ्वीराज के शौर्य एवं सौंदर्य का वर्णन करता है। उसे सुनकर पद्मावती पृथ्वीराज

पर अनुरक्त हो जाती है। उसका विवाह कुमोदमणी से होना निश्चित हुआ था। वह शुक के द्वारा पत्र भेजकर पृथ्वीराज को बुलाती है। पृथ्वीराज उसका हरण कर विधिवत विवाह करते हैं।

पद्मावती पूर्वानुरागिनी नायिका है। गुण श्रवण के द्वारा वह पृथ्वीराज पर अनुरक्त हो जाती है। विधाता ने उसका निर्माण चन्द्रमा की सोलह कलाओं से किया है। उसके अंग–प्रत्यंग के सौन्दर्य के सारे उपमान पराजित होकर छिप गए हैं। वह पद्मगंधा पद्मिनी नायिका है। समुद्र शास्त्र में बताए गए समस्त लक्षण पद्मावती के शरीर में मिलते हैं। वह चौंसठ कलाओं, चौदह विधाओं और छः वेदांगों की ज्ञाता है। उसका यौवन बसंत की तरह खिला हुआ है। उसका अतुल सौंदर्य पशु, पक्षी, देवता, मनुष्य और मुनियों को मोहित करने वाला है –

मनहुं कला ससिमाँन, कला सोलह सो बन्निय्
बाल बेल ससि ता समीप, अंम्रित रस पिन्निय
विगंसि कमल म्रिग भमर, बैन षंजन मृग लुट्टिय
हीर कीर अरु बिंब, मोति नष सिप अहि घुट्टिय
छत्रपति गयंद हरि हंस गति, विह्न बनाय सचै सचिय
पद्मिनियम रूप पद्मावतिम, मनहुँ काम कमिनि रचिय।''[6]
सामुद्रिक लच्छन सकल, चौंसठि कला सुजान।
जानि चतुरदास अंग षट्, रति बसंत परमांन।''[7]

पद्मावती पूर्वानुरागिनी मुग्धा नायिका है। शुक के द्वारा पृथ्वीराज का पराक्रम एवं सौंदर्य सुनकर रोमांचित हो जाती है। वह तन मन से पृथ्वीराज पर अनुरक्त हो जाती है –

सुनत श्रवन प्रथिराज जस, उमंग बाल विधि अंग
तनम न चित चहुवांन पर बस्यौ सु–रत्तछ रंगा।''[8]

अपने विवाह की बात कुमोदमणी से जानकर व्याकुल हो जाती है। वह आतुर होकर शुक से पृथ्वीराज को बुला लाने के लिए कहती है। कुमोदमणी बारात लेकर नगर में प्रवेश करते हैं। पद्मावती अपने प्रियतम पृथ्वीराज की प्रतीक्षा में व्याकुल हो रही है। वह पुलकित होकर पल–पल खिड़की से झांकती हुई पृथ्वीराज के आने का इंतजार कर रही है।

विलषि आवास कूवरि वदन, मनों राहु छाया सुरत
झषति गवठिष पल–पल पलकि, दिषत पंथ दिल्ली सुपति।।'[9]

इतने में शुक आकर पृथ्वीराज के आगमन की सूचना देता है। सूचना सुनते ही पद्मावती के नेत्रों में आनंद का प्रकाश छा जाता है। वह श्रृंगार करने लगती है। श्रृंगार करने के पश्चात् वह मंदिर में गौरी पूजन के लिएहंस की तरह मंथर–मंथर गति से चलती है। मंदिर में पद्मावती गौरी तथा शंकर की पूजा करती है। फिर पृथ्वीराज की ओर देखकर और हंसकर वह आसक्त मुग्ध लाज से घूंघट काढ़ लेती है। पृथ्वीराज पद्मावती का हरण करते हैं और दिल्ली के समीप दुर्गा मंदिर उसके साथ विधिवत् विवाह करते हैं।

पद्मावती समय में पृथ्वीराज वीर पराक्रमी राजा के रूप में सामने आते है। पद्मावती की पुकार पर वे दौड़े आते हैं। पद्मावती को पाने के लिए पृथ्वीराज कुमोदमणी एवं विजयपाल से युद्ध करते हैं। अपने प्रबल प्रतिद्वंद्व शहाबुद्दीन गोरी से भी युद्ध करते हैं। एक अबला स्त्री के उद्धार को वे अपना धर्म समझते हैं। शुक पृथ्वीराज के व्यक्तित्व, शौर्य और पराक्रम का वर्णन पद्मावती को सुनाता है –

शाकम्भरी नरेश पृथ्वीराज सूर्य के समान शोभित है। उनकी आयु सोलह वर्ष की है। वे पृथ्वी पर इन्द्र के समान हैं। देवता के रूप में उन्होंने अवतार धारण किया है। उनकी भुजाओं में भीम के समान शक्ति है। उन्होंने तीन बार शहाबुद्दीन गोरी को पकड़कर छोड़ दिया है। वे अचूक शब्द बेधी बाण विद्या में निपुण हैं। बे बचन पालन करने में बलि के समान तथा दान करने में कर्ण के समान हैं। सदाचरण में वे हरिश्चंद्र हैं। साहस तथा श्रेष्ठ कार्यों में वे विक्रमादित्य हैं। अंशधारी पुरुष की तरह वे धैर्यवान हैं। चारों दिशाएं उनकी वीरता और प्रताप से परिचित हैं। रूप में वे कामदेव के अवतार है।

संभरि नरेस अहुआंन थानं,'' प्रथिराज तहाँ राजंत भांनं।
बैसह बरीस षोड्स नरिदं, आजानु बाहु भुजलोक यदं।।[10]

संभरि नरेश सोमेस पूत, देवंत रूप अवतार पूत।
सामंत सर सब्जे अपार, भुजानं भीम जिस सार मार।।''[11]
जिहि पकरि साह साहाब लीन, तिहूं बेरि करिम पानीप हीन।
सिंगित युसद्ध गुण चढ़ि जंजीर, चुक्के न सबद वेधन्त तीर।''[12]
बल बैन करन जिम दांन मान, सत सहस सील हरिचन्द समान।
साहस सुक्रंम विक्रम जु वीर, दानव सुमत अवतार धीर।।[13]
'दिस च्यार जानि सब कला भूप, कंद्रप्प जांनि अवतार रूप।''[14]

शुक द्वारा वर्णित पृथ्वीराज के व्यक्तित्व और चरित्र में वे सभी विशेषताएं मिलती है जो काव्य लक्षण ग्रंथों में धीरोदात्त नायक में होती हैं। कथानक में पृथ्वीराज के चरित्र की इन्हीं विशेषताओं का विकास हुआ है। पद्मावती का पत्र पाते ही वे चलने की तैयारी कर देते हैं। पद्मावती द्वारा बताए समय और स्थान शिव मंदिर के पास पहुँच कर उसका हरण करते है।

कथानक के उत्तरार्द्ध में पृथ्वीराज के शौर्य–पराक्रम का उत्कर्ष होता है। वे पद्मावती का हरण कर लेते हैं। विजयपाल और कुमोदमणी की संयुक्त सेना उसका पीछा करती है। वे घोड़े की बाग मोड़कर युद्ध करते हैं। वे दोनों सेनाओं को पराजित करके आगे बढ़ते हैं। शहाबुद्दीन के साथ युद्ध करने में उनका पराक्रम देखते ही बनता है। शहाबुद्दीन एक विशाल सेना लेकर के साथ पृथ्वीराज को घेर लेता है। प्रियतमा उनके साथ में है, जो उनके शौर्य को उदीप्त करती हैं। प्रियतमा के नेत्रों के समक्ष प्रबलतम शत्रु से लोहा लेना और उसे पराजित करके बंदी बनाना शौर्य का ऐसा जीवंत उदाहरण है, जो अन्यत्र नहीं मिलता है। पृथ्वीराज तलवार लेकर हाथियों पर टूट पड़ते हैं और शत्रुओं को काट डालते हैं –

''गही तेज चहुवान हिंदवांन रांन। गजं जुय परि कोप केहरि समांन।।
करे रूण्ड मुण्ड करी कुम्भ फारे। बरं सूर सामन्त हूंकि गज भारे।''[15]

वे शहाबुद्दीन गोरी की गर्दन में इस प्रकार तीर डालकर उसे पकड़ लेते है जिस प्रकार बाज झपट्टा मारकर चिड़िया को पकड़ लेता है –

''सिरं नाप कम्मान प्रथिराज राजं, पकरिये साहि जिम कुलिंग वाजं।।''[16]

पृथ्वीराज पराजित शहाबुद्दीन को बंदी बनाते हैं और उसे दण्डित करके छोड़ देते हैं। प्रबलतम शत्रु को बंदी बनाकर छोड़ देना महान आदर्श उपस्थित करता है। इस प्रकार पद्मावती समय में पृथ्वीराज का शौर्य और पराक्रम चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया है।

संदर्भ–सूची :–

1. प्राचीन एवं भक्तिकालीन काव्य सं0 मानवेन्द्र पाठक, पृ069
2. पद्मावती समय; चन्द्रबरदाई, सं0 डॉ0 राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, पृ077
3. वही, पृ078
4. वही, पृ079
5. वही, पृ079
6. प्राचीन एवं भक्तिकालीन काव्य' सं0 मानवेन्द्र पाठक, पृ0 69
7. वही, पृ0 69
8. पद्मावती समय; चन्द्रबरदाई; सं0 डॉ0 राजशेखर प्रसाद चतुर्वेदी, पृ0 79
9. वही, पृ0 79
10. वही, पृ0 89
11. वही, पृ0 89
12. वही, पृ0 90
13. वही, पृ0 90
14. वही, पृ0 90
15. वही, पृ0 90
16. वही, पृ0 90

ꟷ★ꟷ

पंकज सुबीर की कहानी 'हमेशा देर कर देता हूँ मैं'
(यथार्थ और यथार्थ से परे)

दिनेश कुमार पाल*

सेक्स सामाजिक सरोकार का एक अभिन्न अंग है। किसी भी लेखक की कथा/कहानी को देखने का नज़रिया बहुआयामी होता है। आलोचक किसी भी रचनाकार को वर्तमान समय में ही रखकर देखता है और युगीन यथार्थ के अनुसार उसकी व्याख्या भी करता है। आज की कहानियों का कलेवर बहुत विस्तृत होता है। उसे किसी एक विशेष विषय पर समेटना सम्भव नहीं है। "आज का आलोचक बीज के बौद्धिक विमर्श द्वारा चिन्हित की गई बारीकियों की ओर से बेख़बर रहते हुए उसे आसानी से मज़े लूटने में मुब्तिला है। आम तौर पर वह अपने समय की कहानियों पर बात शुरू करते हुए पहले बेरोजगारी, साम्प्रदायिकता, उदारीकरण–निजीकरण–भूमंडलीकरण, मानवीय संवेदना और मूल्यों का क्षरण, सम्बन्धों का बाज़ारीकरण, स्वस्थ सामाजिकता का अपहरण–गोया पूरी–की–पूरी 'रण' भूमि का नक्शा पसारता है और फिर वहीं अपने पाँव जमाकर कहानियाँ पर कठोर परीक्षकीय दृष्टि डालता है।"[1]

बच्चन सिंह का मानना है कि– "मनुष्य को सभ्य बनाने का काम स्त्री ही करती है।"[2] बच्चन सिंह के इस कथन से पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता। मानव समाज में सेक्स की समस्या नैतिकता के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। मनुष्य की यह नैतिक जिम्मेदारी हो जाती है कि सेक्स की समस्या को स्वयं हल करे और समाज में जारकर्म होने से रोके। मानव सभ्यता का निर्माण स्त्री–पुरुष के सदाचार सम्बन्धों और संतुलन से होता है। क्योंकि सभ्य समाज की स्थापना सच्ची और सदाचारी स्त्री और पुरुष के संतुलित सम्बन्ध से होता है। सभ्य समाज के साथ ही साथ– सभ्य सभ्यता और संस्कृति का निर्माण होता है। केवल स्त्री से ही सभ्य समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है और न ही केवल पुरुष से। सेक्स से सम्बन्धित दुनिया के सभी धर्मों के दृष्टिकोण मानव सभ्यता के लिए ख़तरनाक ही रहे हैं। दुनिया के सभी धर्मों ने सेक्स विषय को शिक्षा व्यवस्था से दूर ही रखा। अगर रखा भी है तो अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिए। आजीवक धर्म को छोड़ कर दुनिया का कोई भी धर्म सेक्स की नैतिकता पर बात नहीं किया।

"यहाँ यह बात भी जान लेनी चाहिए कि अभी तक किसी भी मानव समाज में नैतिकता के माप दण्ड अन्तिम रूप से तय नहीं किए जा सके हैं। कोई भी समाज का इतना सुधार हुआ नहीं है कि उसने व्यक्तियों को उनकी भूख–प्यास, रोजी–रोटी और मकान की सुविधा प्रदान कर दी हो। इस में ऐसा भी नहीं है कि किसी समाज ने सेक्स की समस्या को पूर्णतया हल कर लिया हो। बहुत सारे कारण होते हैं जब सेक्स की बंधी–बंधाई नैतिकता के चलन व्यक्तियों द्वारा तोड़ दिए जाते हैं। इन कारणों की खोज की जानी चाहिए कि इन व्यक्तियों ने ऐसा क्यों किया। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि सेक्स की नैतिकता मानव स्वभाव के विपरीत खड़ी कर दी जाती है। ऐसे समय यह मनुष्य का कर्तव्य है कि वह ऐसी नैतिकता को धराशायी कर दे। लेकिन ब्राह्मणवाद नैतिकता के इसी धराशायी करने को चरित्र हनन के लिए इस्तेमाल करना चाहता है। ब्राह्मणवाद से लड़ने के आन्दोलन की यह भी एक कमी है कि अस्पृश्यता, जाति प्रथा और वर्ण व्यवस्था की लड़ाई को तो धड़ल्ले से लड़ा जाता है लेकिन सेक्स की लड़ाई को चोरी से लड़ा जाता है। मनुष्यों में क्षमता होनी चाहिए कि वे अपने सेक्स के संघर्ष को भी मुखर कर सकें। 'मनुष्य को अपनी सेक्स भावना के लिए ब्राह्मणवाद के सामने लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। खुद ब्राह्मण वाद ने जो सेक्स के नियम बनाए हैं सारे–के–सारे उसके उल्लंघन के लिए है। उसने लिख भी रखा है कि ये नियम ब्राह्मण के लिए नहीं हैं बल्कि समाज को थामने के लिए हैं। इसलिए क्रांतिकारीयों को ब्राह्मण वाद के झांसे

***शोधार्थी–हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।**

में नहीं आना चाहिए। ब्राह्मण वाद के पुराने कानून के कारण अभी हिन्दू समाज सेक्स के अपने नए कानूनों को लागू नहीं कर सका है।"[3]

अमूर्तन और रहस्य की शैली में द्विज जार संस्कृति को पूंजीवादी दौर में आदर्श संस्कृति के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया गया है। एक तीर से दो निशान साधे गए हैं। दलित और इस्लाम को सदाचार की संस्कृति को द्विज जार संस्कृति में सान कर द्विज जार संस्कृति का महिमामंडन, और जो आज की पूंजीवादी–उपभोगवादी संस्कृति का विकल्प नहीं बल्कि उसे मज़बूत करने वाली है। 'हमेशा देर कर देता हूँ मैं' पंकज सुबीर का यह नवीनतम कहानी संग्रह है, इस कहानी संग्रह का प्रकाशन 2021 ई. में हुआ। इस कहानी का ताना बाना पाकिस्तान के मशहूर कवि 'मुनीर नियाज़ी' की कविता 'हमेशा देर कर देता हूँ मैं' के घेरे में बुना गया है। कहानीकार इस कहानी के माध्यम से यह दिखाने के कोशिश करता कि किसी व्यक्ति को आप एक देश से दूसरे देश की सीमा में तो बांध सकते हैं, लेकिन उस की रचना को नहीं। रचनाओं की कोई देशीय सीमा नहीं होती।

पंकज सुबीर कहानियाँ रचते नहीं गढ़ते हैं, पाठक और पात्रों के अन्तर्सम्बन्धों के साथ। इनकी कहानियों में एक साथ कई प्रतिबिंब एक साथ चलते हैं। पंकज सुबीर की कहानियों में फैंटसी के साथ–साथ जादुई यथार्थवाद का प्रभाव देखने को मिलता है। "आंद्रे ब्रेतां ने अपने घोषणापत्र में अतियथार्थवाद के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा था कि इसका उद्देश्य मानव–मन को किसी प्रकार के भी बंधन से पूर्ण मुक्ति दिलाना तथा आंतरिक और बाह्य सत्य से एकाकार करना है।"[4]

भूमण्डलीकरण के दौर में बाज़ार ने मनुष्य को एक मशीन बना कर छोड़ दिया है, व्यक्ति आज पूंजीवादी ताकतों का चौबीस घंटों का बंधुआ मज़दूर बन कर रहा गया है। "अब वो समय आ चुका है कि यदि आप एम्प्लाई हैं, तो अब आप सुबह दस से शाम पॉच बजे तक के एम्प्लाई नहीं हैं, अब आपकी कम्पनी ने आपके दिन के पूरे चौबीस घंटे ख़रीद रखें हैं। आप बाथरूम में हैं, कमोड पर बैठें हैं, तब भी मोबाइल उठाकर देखना ही है और तदनुसार उत्तर भी देना है। ...मर जाओ तो अपने बच्चों को छोड़ जाओ, हमारे ग़ुलामों के रूप में। बंधुआ मज़दूरी अब अपना रूप बदल कर सामने आ गई है। यह ग़ुलामी और बँधुआ मज़दूरी का मिला–जुला रूप है।"(पृष्ठ संख्या– 05)

इस कहानी में तनाव का भी प्रभाव देखा जा सकता है, बाहरी और भीतरी तौर पर। कहानीकार का कहना है कि अकेलेपन का अपना आनंद होता है, अकेलेपन का आनंद दो ही व्यक्ति उठा सकता है– एक संन्यासी और दूसरा पूंजपति जो हर सुविधाओं से लैस हो,या फिर समाज से बिलकुल कटा हो या फिर इन दोनों को समाज के मायने नहीं पता हो। "अकेलेपन का आनंद केवल वही जानता है, जो इसे उठा रहा होता है। एक ऐसी दुनिया जहाँ किसी की आहट भी नहीं हो, इतनी ख़मोशी हो की आप बैठ कर पेड़ों से गिरते हुए पत्तों की आवाज, अपनी ही साँसों की आवाज वे सारी आवाज़ें सुन सकें, जो किसी और के होने पर आपके लिए पराध्वनियॉ हो जाती हैं। अकेलापन हमारे लिए अपने आप से प्रेम करने का एक अवसर होता है। एक मौक़ा होता है कि हम अपने प्रेम में डूब सकें। उसे भी शायद अब अपने आप से प्रेम करना पसंद आने लगा है।" (पृष्ठ संख्या– 08)

वैश्वीककरण के दौर में बाज़ार पूरे विश्व को एक परिवार मानता है, जहाँ गाँव और शहर को जोड़ने की होड़ मची हुई है। हाँ, यह भी सही है कि गाँव बच्चों को पालता–पोसता है और शहर उनका इस्तेमाल करता है। इसके बजाय उन्हें सिर्फ़ जिन्दा रहने के लिए रोटी और कपड़े दे देता है। "हर बार हायर सेकेंडरी की परीक्षा का परिणाम आने के बाद गाँव रो–रो कर विदा करता है कितने ही मासूम चेहरों को। वो चेहरे जो शहर की मशीन में जाकर अपनी मासूमियत को हमेशा के लिए खोने वाले हैं। गाँव उनको पालता–पोसता है और जवान करके शहर के हवाले कर देता है, उपयोग करने के लिए। शहर किसी को पालता–पोसता नहीं है, शहर तो बस उपयोग करता है।"(पृष्ठ संख्या– 14)

बबलू पागल नहीं था, दलित होने के कारण अभिशप्त था। 'नहीं, जो व्यक्ति 'खेती–किसानी का गठा हुआ, तराशा शरीर था, जो धूप में तप कर तॉबिया हो चुका था' (पृष्ठ संख्या– 15) पागल कैसे हो सकता है, कहानीकार यहीं तक नहीं रूकता उसके मरने के बाद भूत भी घोषित कर देता है। वो अपने समाज को अच्छी तरह से समझ रहा था और देख रहा था कि समाज में किस प्रकार से रोज नए रिश्ते बनते हैं और बिगड़ते हैं। कहानी में जारणी लम्बी चाची के करतूतों का मात्र वही तो ग़वाह था। दिन भर नदी के किनारे बैठे एड़ियाँ रगड़ने के पीछे की कहानी का। "गूँगा नहीं था, मगर उसे बोलते किसी ने नहीं सुना था। किसी की आँखों में आँखें डाल कर देखता भी नहीं था। ऐसा लगता था जैसे यह सारी दुनिया उसके लिए है ही नहीं।" (पृष्ठ संख्या– 15)

"विवाह से परिवार की वैधता शुरू होती है। एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है और उस विवाह से जो संतान जन्म लेती है वह उस की धर्मज संतान है और उसे उत्तराधिकार में संपत्ति मिलती है। लेकिन ऐसा तब तक है जब तक सब कुछ ठीक–ठीक चलता है। लेकिन मनुष्य की संतान विवाह से बाहर भी जन्म लेती है। विवाह से बाहर वह जारकर्म और बलात्कार का रास्ता है जिस से संतान जन्म लेती है। वह वेश्यावृत्ति भी हो सकती है। कोई सभ्यता तभी अच्छी कही जा सकती है जब वह विवाहबाह्य जारकर्म, बलात्कार और वेश्यावृत्ति पर रोक लगाए।"[5]

"अपने बच्चे नहीं हुए लम्बी चाची के, ख़ूब इलाज, हकीम, डॉक्टर, वैद्य, टोना–टोटका, झाड़– फूँक सब करवाया गया, लेकिन कुछ नहीं हुआ। मायका और ससुराल दोनों ही ख़ूब धनाढ्य परिवार हैं, इसलिए हाथ हमेशा भरा रहा लम्बी चाची का।... चालीस–पैंतालीस की उम्र है अब उनकी, लेकिन अभी भी दिप–दिप करती हैं।" (पृष्ठ संख्या– 16) कहानीकार पंकज सुबीर ने महिला की सारी तकनीकी जॉच करवाना नहीं भूलते लेकिन पुरुष परसोत्तम की तकनीकी जाँच करवाने में असमर्थ है, जिसके चलते चालीस–पैंतालीस वर्ष बाद मालूम चलता है कि पुरुष के नपुंसक होने की वज़ह से एक स्त्री अपनी शारीरिक पूर्ति के लिए 11–12 साल के लड़के से जबरदस्ती करने की कोशिश करती है।

पुरुष और स्त्री के शारीरिक रिलेशनशिप फाल्ट के बारे शादी के लगभग एक या दो साल में मालूम चल जाता है, अगर स्त्री पुरुष के सेक्सुअल रिलेशनशिप से खुश नहीं है, पुरुष स्त्री से खुश नहीं है तो दोनों ईमानदारी पूर्वक तलाक लेकर दूसरी शादी कर सकतें हैं। "मैंने जो सवाल उठाए हैं वे स्त्री और पुरुष दोनों के लिए विवाह में मोरलिटी के हैं। जहाँ दीख रहा है कि नारी पुरुष की गुलाम बनाई गई है वहाँ नारी की तरफ से पुरुष के खिलाफ घमासान युद्ध मचना ही चाहिए। उन संस्थाओं का नाश कर देना चाहिए जिन्होंने स्त्रियों को पुरुषों की गुलामी में जेवड़ी बना कर बांध रखा है। उस लड़ाई में मैं नारी का पक्षधर हूँ। तब मुझे नारी की तरफ से लड़ने में सुख भी मिलेगा। लेकिन यह एकदम दूसरी बात है कि स्त्री और पुरुष दोनों को विवाह के मामले में एक दूसरे के प्रति एकनिष्ठ और वफादार रहना चाहिए। मोरल को बचाए रखने में दोनों की जिम्मेदारी है।"[6]

"मुझे ज़रा घर तक तो छोड़ आ। तेरे चाचा तो लगता है आज पूरी रात जमेंगे यहाँ। ताश के पत्तों में ही जाएगी आज पूरी रात।" (पृष्ठ संख्या– 28) इस कहानी में एक स्त्री 11–12 साल के लड़के मनीष से जबरन रिलेशनशिप बनाने की कोशिश करतीं हैं, जिसे भारतीय संविधान में बलात्कार कहा जा सकता है। लेकिन भारतीय संविधान में सिर्फ़ स्त्री का ही बलात्कार माना जाता है, स्त्री की ही सिर्फ़ इज़्ज़त होती है, पुरुष की नहीं। इस कहानी में चालीस–पैंतालीस साल की औरत के द्वारा 11–12 साल के लड़के का बलात्कार करने की कोशिश की जाती है, इसके लिए संविधान में कोई दण्ड संहिता नहीं बनाई गई। "अरे आ ना, बाहर क्यों खड़ा है? पानी–वानी पी ले कपड़े ठीक कर ले फिर चले जाना, कैसा भूत–सा हो गया है।" (पृष्ठ संख्या– 29) तेरी शर्ट तो एकदम ख़राब हो गई है। उतार दे इसको, मैं तेरे चाचा की शर्ट निकाल के लाती हूँ कोई। आ तो जायेगी तुझको।"(पृष्ठ संख्या– 29)

यह भूत बबलू यानी एक दलित का नहीं, यह भूत तो द्विज जार संस्कृति का है जिसे कहानीकार ने पूंजीवादी संस्कृति के आदर्श विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया है। "कुछ देर बाद अचानक उसे लगा कि

जो टॉवल उसका पसीना पोंछ रहा था, वो टॉवल अब नहीं है। अब बस दो हाथ हैं और कुछ उँगलियाँ हैं, जो पसीने को सोख रही हैं। झुकी नज़रों से उसने उसे देखा कि ऐसा सचमुच ही है, क्योंकि टॉवल उसके पैरों के पास पड़ा था। उसने पलटना चाहा लेकिन उसकी इस कोशिश को भॉपते ही दो हाथ सॉपों की तरह पीछे से आकर उस पर कस गए। दो हथेलियाँ सॉपों के फनों की तरह उसके सीने पर कस गईं। उन फनों की दस उँगलियों का बहुत गहरा कसाव उसने अपने सीने पर महसूस किया।"(पृष्ठ संख्या– 30)

मनीष के व्यक्तित्व को मन्नी और मनीष में द्विभाजित करके द्विज जारकर्म की संस्कृति का महिमामंडन किया गया है और इस में दलित को हथकंडा बनाने की कोशिश की गई है। "जाने दीजिए मुझे.. ..। वह रुआसा हो रहा था। मन्नी अपने अंदर किसी भरे– पूरे पुरुष मनीष को उगता हुआ महसूस कर रहा था। मनीष, जो मन्नी के प्रतिरोध को कमज़ोर कर रहा था। वह पुरुष मनीष, जिसे ज्ञात था कि यह सब क्या हो रहा है। मनीष, जो चाह रहा था कि यह सब कुछ जो घटित हो रहा है, यह इसी प्रकार होता रहे। लेकिन उसके अंदर जो मन्नी था, वो कह रहा था कि यह सब ग़लत है।"(पृष्ठ संख्या– 31)

जार कर्म की भाषा को प्रेत–भाषा के बहाने छिपाने की कोशिश। जारकर्म की भाषा प्रेत–भाषा के रूप में परवान चढ़ी है। "चेहरे को उसने देखा तो एक बार फिर से हैरत में पड़ गया। जो शक़ आवाज़ को सुनकर उपजा था, वो एकदम पक्के यक़ीन में बदल गया। नहीं ये चाची नहीं हैं। ये चेहरा तो चाची का हो ही नहीं सकता। यह तो उसी बबलू का चेहरा है, जो नदी में डूबकर मर गया था। चाची का चेहरा ऐसा कभी नहीं देखा। यह फक्का बबलू ही है। बबलू का चेहरा उसके चेहरे के इतने क़रीब आया कि धुँधला ही हो गया।"(पृष्ठ संख्या– 31)

दलित धारा को विकृत कर विलीन कर दिया गया। 16–17 साल के दलित लड़के को व्यभिचार के पंक (द्विज जार संस्कृति के पंक) में सान कर दलितों का सांस्कृतिक वा सदाचार की परम्परा को जबरन विकृत करने की कोशिश की गई है। "बबलू की बस साँसें थीं, जो नकारात्मक उत्तर दे रही थीं। मन्नी को लगा कि यह सब कुछ जो हो रहा है, यह ग़लत हो रहा है। मनीष और बबलू दोनों मिलकर उससे और लम्बी चाची से कुछ ग़लत करवा लेने पर आमादा हैं। इनसे बचना ही होगा। जो भी हो, इन दोनों का खेल बिगाड़ना ही होगा। बबलू और मनीष अब एक–दूसरे का साथ दे रहे थे। मनीष के हाथ भी अब साँप बन चुके थे। मन्नी का नियंत्रण उन पर से हट गया था।" (पृष्ठ संख्या– 31)

धर्म, सत्य, शील बुराई नहीं बल्कि इनकी आड़ में ना तलाक की व्यवस्था को कायम रखते हुए जारकर्म और व्यभिचार की संस्कृति को मज़बूत करना है। "आज के बाद कुछ नहीं होता... हर काम बस आज होता है... इसी आज के बाद के चक्कर में बरसों बीत गए। इसी धर्म, सत्य, और शील को निभाने में बरसों नदी के पत्थर पर एड़ियाँ रगड़ने के अलावा कुछ नहीं मिला... झूठा है यह सब कुछ... इस उमर में मत पड़ इसके चक्कर में... निकल आ इससे बाहर...। जो है, बस वो यही है, इसके अलावा और सब झूठ है, बिलकुल झूठ...। बबलू ने मनीष की पीठ के दोनों उभारों को अपनी हथेलियों के फ़न में कसते हुए बहुत ही उदास स्वर में कहा। मन्नी ने एक बार फिर से प्रेत भाषा को समझने की असफल कोशिश की। क्या बोल रहा है यह बबलू...? मनीष आँखें बन्द किए हुए बबलू के स्पर्श में खोया हुआ है।"(पृष्ठ संख्या– 33) "भारतीय दंड संहिता 1980 की धारा 375(6) के अनुसार किसी भी पुरुष द्वारा सोलह वर्ष से कम आयु की स्त्री की सहमति/असहमति से उसके साथ संभोग करना बलात्कार है,. ..वहीं अपनी ही पत्नी जिसकी उम्र पंद्रह साल से कम न हो, के साथ सहवास करना बलात्कार नहीं है।"[7]

दलित की तरह मुस्लिम क़ौम को भी द्विज जार संस्कृति में सानने की कारगुज़ारी की है, जब कि मुसलमानों की संस्कृति–धर्म इस्लाम में जारकर्म के विरुद्ध तलाक की व्यवस्था है। जार संस्कृति चाहे दलित की आजीवक संस्कृति हो या इस्लाम की संस्कृति दोनों का सामना नहीं कर सकती है। आजीवक और इस्लाम की परम्परा में बाँझपन के ख़िलाफ़ तलाक और पुनर्विवाह की व्यवस्था है, वैदिक परम्परा के द्विजों की तरह जार–कर्म की नहीं। "तूने बहुत ग़लत किया मन्नी। पता है एक बार अम्मी किसी से कह रही थीं कि परसोत्तम के पास कुछ भी नहीं है, उसके बाद भी लम्बी ने अपने आप को कहीं फिसलने नहीं दिया।

नदी पर एड़ियाँ घिस–घिस कर अपने को क़ाबू में रखा। तुझे वहाँ से भागना नहीं था मन्नी। उस बिचारी औरत ने ज़िन्दगी में पहली बार तो हाथ बढ़ाया था और तू उसे छोड़कर भाग आया। बहुत ग़लत किया है तूने मन्नी, बहुत ग़लत। ज़फ़र की आवाज़ भारी हो गई थी।'' (पृष्ठ संख्या– 35)

मनीष के माध्यम से उसी द्विज जार संस्कृति को महिमा मंडित किया गया है। बबलू के भूत की तरह जार संस्कृति सदियों से द्विजों का पीछा कर रही है। बबलू तो दलित कौम का व्यक्ति है और दलित कौम का वैदिक जार संस्कृति से क्या संम्बंध? दलित बबलू को द्विज जार संस्कृति में सानने की कोशिश दलित सदाचार की परम्परा के खिलाफ़ एक गहरी साज़िश की तरह है। सदाचार पाप होता है, जारकर्म नहीं...कुल मिला कर कहानीकार यही स्थापित करना चाह रहा है। "पर मुझे तो लगा कि वो जो कुछ हो रहा है, वो ग़लत है, पाप है। मुझे वैसा बिलकुल नहीं करना चाहिए।" उसने कुछ हैरान होते हुए कहा। (पृष्ठ संख्या– 35)

कहानीकार पर अश्लीलता का आरोप न लगे, इस से बचने के लिए जारकर्म की तमाम व्यंजनाओं का स्त्रोत खींचने के बावजूद 'लम्बी चाची' को संयोग का सहारा लेते हुए ख़त्म करवा देता है। और दूसरी तरफ़ मन्नी उर्फ़ मनीष को इस बात का गहरा अफ़सोस, वह जारकर्म के रूप में अपनी और लम्बी चाची की इच्छाओं को परवान न चढ़ा सका। "नहीं कहूँगा... बिलकुल नहीं कहूँगा... और... "कहते हुए वो कुछ देर को चुप हो गया। "और अगर फिर से ऐसा कुछ होता है, तो अब की बार भागूँगा नहीं... पक्का नहीं भागूँगा... इस बार बच्चे से बड़ा बनकर ही वापस आऊँगा... तुझे शिकायत नहीं होगी फिर मुझसे।" (पृष्ठ संख्या–37)

"अगले दिन नदी के बंधान में लम्बी चाची की लाश तैरती हुई मिली। कुछ का कहना था कि लम्बी चाची नदी के उस पार से एड़ियाँ रगड़कर वापस लौट रही थीं, तो बंधान पर से गुज़रते समय उनका पैर फिसल गया और वो सीधे बंधान के गहरे पानी में गिर पड़ीं। दोपहर का सुनसान समय था, कोई बचाने वाला भी नहीं था, तो डूब कर मर गईं। कुछ का कहना था कि बबलू ने एक दिन पहले रात को मनीष पर घात लगाई थी, मनीष तो बच गया लेकिन उस दिन बंधान पर लम्बी चाची को अकेली पाकर बबलू ने उनकी जान ले ली। नीम की सबसे ऊँची शाख़ पर ले जाकर वहाँ से लम्बी चाची को सीधे बंधान में फेंक दिया।"(पृष्ठ संख्या–38)

"कोई व्यक्ति जार या क्रूर किसी विशेष व्यक्ति के साथ होता है, कोई व्यक्ति हर किसी के साथ जार या क्रुर नहीं होता। तलाक के द्वारा जोड़े बदलने की अनुमति देने से ये समस्याएं काफी हद तक समाप्त हो जाती हैं।" लम्बी चाची की मृत्यु कैसी हुई, इसकी ख़बर किसी को भी नहीं है कि लम्बी चाची एक ओर युवक के समक्ष निर्वस्त्र होने की शर्मिंदगी, दूसरी ओर समाज के समक्ष शर्मिंदा होने के कारण। या फिर परसोत्तम चाचा के द्वारा अपनी जारणी पत्नी की सारी कहानी मालूम चलने पर, पत्नी को मार कर नदी के किनारे फेंक देना। लम्बी चाची के जार कर्म के पकड़े जाने के दो संकेत कहानीकार ने दिया है, पहला मन्नी का शर्ट लम्बी चाची के घर छोड़कर भागना, –"घर से निकलकर वह भागा, उसी हालत में भागा। सरपट। मुकेश के घर की ओर। बिना शर्ट के। ऐसे दौड़ रहा था जैसे उसके पीछे सचमुच ही कोई भूत लगा हो। बदहवास–सा दौड़ता हुआ जब वो शादीवाले घर के पास पहुँचा, तो सबसे पहले परसोत्तम चाचा की नज़र उस पर पड़ी, जो चौपाल से लगकर पत्ते खेल रहे थे। उसे बिना शर्ट के घबराया हुआ दौड़कर आते देखा तो पत्ते छोड़ कर उठ खड़े हुए।"(पृष्ठ संख्या– 34) और परसोत्तम चाचा उससे बोले– "अरे... मन्नी क्या हुआ तुझे? ऐसे क्यों सरपट भाग कर आ रहा है...? और तेरी शर्ट कहाँ गई...? दूसरा मुकेश के चाचा के बारात वाली रात में जारकर्म करते हुए पकड़े जाना, क्योंकि सारे गाँव के लोग मुकेश के चाचा के बारात में गए हुए थे। उसी रात को जारणी को ख़त्म कर नदी में फेंक देना, –"नहीं मन्नी... अब उस तरफ़ से कुछ भी नहीं होगा, अब तो सब कुछ तुझे ही करना होगा। सुन, आज सब मुकेश के चाचा की बारात में गए हैं, तू रात को चला जा उनके घर... और अपनी ग़लती को सुधार आ... आज ही मौक़ा है... ।" (पृष्ठ संख्या–37)

आज के दौर में छोटी सी छोटी कम्पनियों और कारखानों में काम करने वाले व्यक्तियों के लिए नियम–कानून बनाये गये हैं। और उस बनाये गए नियम–कानून के ख़िलाफ़ कोई भी सदस्य काम नहीं कर सकता। अगर वह कानून के खिलाफ़ कार्य करता है तो उसे दण्ड दिया जाता है, लेकिन भारत में विवाह जैसे संस्था के लिए कोई भी नियम–कानून नहीं लागू होतें। और न ही विवाह संस्था के खिलाफ़ व्यक्ति के लिए कोई दण्ड संहिता लागू होती है।

इस कहानी के केन्द्र में दो पात्र हैं, एक स्त्री लम्बी चाची और दूसरा दलित लड़का बबलू। कहानी कार बड़े चालाकी के साथ दोनों पात्रों को ख़त्म कर देता है। पात्रों को खत्म कर देने का मतलब है विमर्श को खत्म कर देना है। किसी कहानी का मूल्यांकन हम आन्तरिक और बाहरी दोनों कारणों से करतें हैं। किसी कहानी की समीक्षा भीतरी पाठ की समीक्षा के साथ–साथ बाहरी पाठ की समीक्षा से पूरी होती है। जब हम किसी कहानी के भीतरी तह से उसकी समीक्षा करने में असमर्थ होते हैं तो हम बाहरी कारणों या समस्याओं से उसकी समीक्षा करते हैं।

संदर्भ–सूची :–

1. हमेशा देर कर देता हूँ मैं, पंकज सुबीर, राजपाल एण्ड सन्स़, दिल्ली, पहला संस्करण : 2021।
2. हिन्दी कहानी की इक्कीसवीं सदी, पाठ के पास : पाठ से परे, संजीव कुमार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण– 2019, पृष्ठ संख्या– 142।
3. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, नौवाँ संस्करण : 2017, पृष्ठ संख्या– 340।
4. सन्त रैदास का निर्वर्ण सम्प्रदाय, डॉ. धर्मवीर, संगीता प्रकाशन, शाहदरा दिल्ली, रीप्रिन्ट 1999, पृष्ठ संख्या–120।
5. हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति– 2015, पृष्ठ संख्या– 22।
6. दलित सिविल कानून, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, आवृत्ति–2012, पृष्ठ संख्या– 64।
7. तीन द्विज हिन्दू स्त्रीलिंगों का चिन्तन, डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2007, पृष्ठ संख्या– 41।
8. समकालीन कथा साहित्य,सरहदें और सरोकार, रोहिणी अग्रवाल, आधार प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, पंचकूला हरियाणा, द्वितीय संस्करण–2012, पृष्ठ संख्या– 96

सम्प्रति :– पंकज सुबीर की कहानियों का समाजशास्त्रीय अध्ययन (आलोचना) की पुस्तक, हिन्दुस्तानी, शिवना साहित्यिकी, शोध धारा, शोध प्रकल्प, शोध श्री, सुबह की धूप, शोध ऋतु, साहित्य कुंज, साहित्य हंट, जनकृति, इत्यादि पत्रिकाओं में स्वतंत्र लेखन।

★

महिला किन्नर की यातना का दस्तावेज़ : 'द डार्केस्ट डेस्टिनी'

डॉ. सनोज पी. आर.*

वर्तमान समय में किन्नर, ट्रांसजेंडर, थर्ड जेंडर, उभयलिंगी, तीसरी ताली, ख्वाजासराह, हिजड़ा आदि नाम से अनेक पुस्तकें, भिन्नदृभिन्न विधाओं में आ चुकी हैं। जिसके गर्भ में तो किन्नर विषय ही होता है, लेकिन विशेष तौर पर किन्नर के ही एक उपविषय को आधार बनाकर सृजित किया गया उपन्यास 'दा डार्केस्ट डेस्टिनी' एक अद्वितीय कृति है। इस उपन्यास में एक तरफ ट्रांसजेंडर के अधिकारों की चर्चा है तो दूसरी तरफ महिला किन्नर के साथ होने वाली घटनाओं का पूरा लेखादृजोखा दृष्टिगत होता है। राजकुमारी जी ने इस उपन्यास में एक लड़की से थर्ड जेंडर होने की समस्त कठिनाइयों, दुर्बलताओं को प्रस्फुटित करने का महनीय कार्य किया है। अमूमन ऐसे विषय पर कम ही लिखा गया है। किन्नर की जो चार धाराएं होती हैं उनमें से ही एक धारा है 'बुचरा' जिसको आधार बनाकर इस उपन्यास को सृजित किया गया है। उपन्यास का कथानक विराट है, भाषा शैली सीधी, सरल और सपाट है जिससे साहित्य ही नहीं वरन एक आम पाठक भी आसानी से जुड़ सकता है और महिला किन्नर की पीढ़ा और संघर्ष को समझ सकता है।

डॉक्टर राजकुमारी का उपन्यास 'द डार्केस्ट डेस्टिनी' मानवीय संवेदनाओं पर आधारित एक अनूठी कृति है जिसमें एक महिला किन्नर की कहानी है। जिसका नाम अमृता है, उसका जीवन हमेशा से संघर्ष कठिनाई और पितृसत्तात्मक समाज में अपने अस्तित्त्व को बचाने तथा खुद को इंसान की श्रेणी मे रखने के लिए जद्दोजहद करता है। भारतीय समाज मे मुख्तया दो ही लिंग को माना जाता है स्त्री, पुरुष। लेकिन वैदिक वाङ्ग्मय मे तीन लिंग का वर्णन मिलता है स्त्रीलिंग, पुर्लिंग तथा नपुंष्कलिंग। वर्तमान मे भारतीय साहित्य मे भी इस तृतीय उभयलिंगी समाज की खूब चर्चा हो रही है उसका सबसे बड़ा कारण वाङ्ग्मय, अनुसंधान हिन्दी त्रैमासिक पत्रिकाओ के कई विशेषांक है जिनके माध्यम से इस विमर्श को भी साहित्य जगत मे स्थान मिल रहा है भारत के अनेक विश्वविधालयों मे शोध कार्य हो भी चुके है और उतरोत्तर हो रहे हैं। जिससे इस उपेक्षित, बहिष्कृत समाज के उत्थान में कुछ नई जानकारी भी जुड़ेगी और समाज भी उनको समानता का अधिकार देने के लिए जागरूक होगा। केंद्र और राज्य सरकारे भी उनके लिए नयी–नयी योजनाओ का शिलायन्स करेंगी। क्योंकि यह शत प्रतिशत सत्य है कि साहित्य में समाज और सरकारो को मोड़ने का सामर्थ्य होता है।

"उस दिन महसूस किया कि दुनिया केवल लिंग की कद्र करती है इंसान की नहीं। यदि मैं लड़की होती तो शायद वे तीनों दरिंदे हवालात में होते, लेकिन मै ठहरी नपुंसकता की तख्ती गले में मंगलसूत्र की तरह टांगे एक हिजड़ा। और ये भी महसूस किया कि अगर अपने साथ दें तो दोषी भी सीना तानकर खड़ा हो सकता है और अगर अपने खिलाफ हो तो निर्दोष को भी दंडित किया जा सकता है।"[1] उपर्युक्त अंश उपन्यास की नायिका अमृता का हैं जिसने अपने ऊपर हुई अभद्रता का वर्णन किया है, और समाज द्वारा लिंग की वजह से उसको प्रताड़ित किया जाता है। यह व्यवहार किन्नरो के प्रति समाज मे आम हो चुका है। जिसको वो अपनी नियति समझते हैं और समाज उसको उनकी डेस्टिनी समझता है। किन्नरों की स्थिति समाज में प्रायः दयनीय, बहिस्कृत और उपेक्षित ही रही है इस असहनीय पीढ़ा का प्रारम्भ हमेशा उक्त ट्रांस जेंडर के परिवार से ही होता है जब उस किन्नर बच्चे का जन्म होता है तब उसकी माता को सहना पड़ता हैं सबसे पहले परिवार के वरिष्ठ सदस्य फिर देवर,भाभी उनके बच्चे से होते हुए घर के बाकी सदस्य जो परिवार में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से शामिल है वो भी उस किन्नर की माता को हेय दृष्टि से देखते हैं। आखिर लिंग की वजह से इतना बखेड़ा शुरू हो जाता है जिसको कभी सभ्य समाज में बर्दाश्त नही किया जा सकता है। और यह कुकृत्य संविधान सम्मत भी नही है। लेकिन समाज मे अपनी जड़े फैला चुका है जिसका समूल नाश होना अनिवार्य प्रतीत होता है। क्योंकि मानवीय संवेदनाओ की रक्षा करना सामाजिक, राजनैतिक और नैतिकता के परिप्रेक्षय मे भी अति आवश्यक है। एक महिला किन्नर पर भी बलात्कार का प्रयास होता है तो समाज क्यों खामोश रहता है ? यह प्रश्न विचारणीय है। न ही इस कुकर्म पर उसके परिवार का कोई सहयोग मिला और न ही इस तथाकथित समाज का जिसके

***सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, देवगिरी कॉलेज, कालीकट, केरल।**

कारण अमृता इस समाज को सेलेक्टिव भावनाओ वाला समझने लगी यदि किसी नॉर्मल लड्की के साथ यह हादसा होता तो क्या उसका परिवार, समाज और उसके ठेकेदार शांत बैठते यह प्रश्न अमृता के मन मे सिहरन पैदा करते है जिसके कारण वह खामोश हो जाती है और समाज के इस रूप को भी समझ लेती है कि आखिर लोग कितना सेलेक्टिव सोच के हो चुके है उनकी भावनाएं भी उनके लाभ, महत्वाकांक्षाए भी उसी के साथ विचरण करती हुई प्रतीत होती है।

वर्तमान समय में ऐसे अवसरवादी व्यक्तियों की भरमार है लेकिन समय उनको उचित उत्तर अवश्य देगा जब मानव हृदय में माननीय संवेदनाओं का प्रस्फुटन होगा। अमृता के साथ बलात्कार की घटनाएं कई बार हुई और उसको इंसाफ नहीं मिला बल्कि उसको शांत करा दिया गया क्योंकि बचपन से ही ना ही पुरुष थी और ना ही स्त्री। उसका तो लिंग ही निर्धारित नहीं था। जिसकी सजा उसको बार–बार भुगतनी पढ़ती थी। एक बार तो उसके सगे मामा ने उसके साथ बहसीपन किया जिसका उसने खुलेआम विरोध किया "वो मेरे पैरों के स्कर्ट वाले हिस्से को छूने का प्रयास करने लगे। उनके हाथ बेलगाम घोड़े की तरह मेरी जांघों पर दौड़ने लगे। मैंने अपने आप को बचाने का संघर्ष शुरू कर दिया। मैं खुद को बचाने के लिए खुद को उनसे छुड़ाने का प्रयास करने लगी।'[2] इस प्रकार रिश्ते के सगे संबंधियों ने अमृता पर प्रताड़ना प्रारंभ कर दी थी क्योंकि उसका सीधा कारण था वो एक किन्नर स्त्री है। जिसका खामियाजा उसको अपनी अस्मिता गवा कर देना पड़ता था। अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रही एक उभयलिंगी स्त्री हमेशा लड़ती रहती है। भारत में चाइल्ड अबयूस की घटनाएं उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं ऐसा करने वाले हमेशा सगे संबंधी ही होते हैं। जो मासूम बच्चों को अपने हवस का शिकार बना लेते हैं, जबकि बच्चों के माता–पिता ऐसे सगे संबंधियों पर बहुत विश्वास करते हैं, और उन पर सब कुछ न्यौछावर करने का सपना भी देखते हैं लेकिन समाज के अंदर बढ़ती कामुकता इन रिश्तो को तार–तार कर देती है। जिसका खामियाजा बच्चों को भुगतना पड़ता है ठीक इसी प्रकार अमृता के साथ भी हुआ उसको कई बार उसके सगे मामा ने अपनी हवस का शिकार बना लिया। अमृता ने उसका पुरजोर विरोध भी दर्ज किया लेकिन एक स्त्री किन्नर होने के नाते वह संघर्ष करती हुई दिखाई देती है जबकि उसका मामा हष्ट पुष्ट होने के कारण उसको दबोच लेता है और उसके साथ अप्राकृतिक संबंध स्थापित करता है।

इस प्रकार रचनाकार ने भी किन्नर स्त्री के संबंध में जो उनके संघर्ष को दर्शाया है समाज में आज भी व्याप्त है। जब अमृता स्वयं को बचाने का संघर्ष कर रही थी तो उसका मामा जोर जबरदस्ती कर रहा था जैसा कि अमृता ने बताया है " उन्होंने मुझे पीछे से अपनी मजबूत कलाइयों में जकड़ लिया और बोलने लगे, ' तुम्हारा क्या घिस जाएगा, जो इतना चिल्ला रही हो? तुम्हें तो मेरा शुक्रिया अदा करना चाहिए जो मैं तुम्हें इस लायक समझ रहा हूं।, तुम खुद को लड़की समझने के भ्रम से कब बाहर आओगी? तुम हो तो पुरुष ही न? जब भी तुम्हें देखता हूं जवानी बहक जाती है। तुम्हारे खूबसूरत, चेहरे उभरे अंगों को देख मन मचलने लगता है। नारी दिखती हो, पर हो तो हिजड़ा ही न, क्या फर्क पड़ेगा जो हम थोड़े मजे ले लेंगे? यह बात हम दोनों तक ही रहेगी।' वो मेरे अंगों को वहशीपन से दबाने लगा और मैं दर्द से छ्ट्पटाने लगी। मैंने उस वहशी से खुद को स्वतंत्र कराने के संघर्ष में घर की सारी चीजें बिखेर दी। सोफे के कुशन, पलंग की चादर, स्टैंड पर लगी तस्वीरें और कांच के बर्तन"[3] इस प्रकार मामा ने अमृता के साथ संबंध बनाने के लिए बहुत प्रयास किए तथा अमृता ने खुद की रक्षा की और अपने शरीर पर जख्मों के निशान ले लिए। लेकिन अपने साथ कोई अनहोनी घटना नहीं होने दी और उस कंस रूपी तथाकथित मामा को संदेश भी दिया कि दिखने में भले ही वह स्त्री किन्नर है लेकिन उसकी अस्मिता सर्वोपरि है। वह अपने इस अस्मिता से कभी भी समझौता नहीं कर सकती। डॉक्टर राजकुमारी ने इस क्रम में यह बताने का प्रयत्न किया है कि अस्मिता सबकी समान ही होती है चाहे वह स्त्री हो पुरुष हो या फिर थर्ड जेंडर। दर्द की सिहरन हर मनुष्य में समान ही होती है क्योंकि इसका संबंध मनुष्य की आत्मा से होता है, लिंग से नहीं। जिसकी आत्मा जीवित है वह किसी भी प्रकार का अन्याय, अत्याचार और बहिष्करण कदापि सहन नहीं करेगा और उसके विरुद्ध अपना प्रतिरोध दर्ज कराएगा। इसके संबंध में उपन्यास की नायिका अमृता जब राजकोट जाती है तो वह बाबा भीमराव अंबेडकर की प्रतिमा के पास खड़े होकर अपने दर्द को बताने का प्रयत्न करती है और शिकायत करती है कि आखिर बाबा आपने हमें अपने अधिकार क्यों नहीं दिए जबकि स्त्री और पुरुष को दिए हैं इस पीड़ा को बताते हुए वह रोने लगती है और सामाजिक न्याय की बात करती है यद्यपि भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय का अधिकार हर किसी नागरिक को दिया गया है लेकिन समाज में पितृसत्तात्मक समाज की जड़ें इतनी कठोर हो चुकी हैं उनको कतरने के लिए समाज के सभी

अंगों को मिलकर प्रयास करना होगा जिससे भविष्य में कुछ शुभ परिणाम आने के संकेत मिल सकते हैं। जैसा कि अमृता बाबा भीमराव अंबेडकर से शिकायत करते हुए अपनी पीड़ा का बखान करती है– "अरे ! ये तो वही हैं जिसे भारत का भाग्य विधाता कहते हैं, गरीब, मजदूर और दलितों का मसीहा कहा जाता है। ये तो डॉक्टर भीमराव अंबेडकर हैं।' मैंने स्कूल की पाठ्य पुस्तकों में उनके बारे में पढ़ा था। मैंने उस प्रतिमा को ऊपर से नीचे तक देखना शुरू किया, प्रतिमा के नीचे स्थानों पर कार्य पत्थर पर उनका बड़ा सा नाम और जीवन संघर्ष लिखा हुआ था। जिस पर अब तक मेरा ध्यान नहीं गया था। उस पत्थर पर लिखा था,' गरीब, मजदूर, शोषितों, पिछड़ों एवं दलितों के मसीहा' ये बात सत्य भी है कि उन्होंने तो सब लोगों के अधिकारों के लिए काम किया और समाज में उन्हें समानता और सम्मान दिलाने का प्रयास किया लेकिन मैं उनसे सहमत नहीं हुई। मेरे मन में एक गुबार था जिसे मैं निकालना चाहती थी और मैं उनके सामने निडरता से खड़ी हो गई और ह्रदय में दबे कुंठाओ के उस गुबार को निकालने लगी जो अंदर ही अंदर मुझे खाए जा रहा था।'[4] अमृता ने इन पंक्तियों के माध्यम से अपनी बात को किसी परमात्मा से ना कह कर दलितों, मजदूरों, किसानों, शोषित, वंचितों एवं हाशियकृत समाज के अगुआ रहे महामानव बाबा भीमराव अंबेडकर से याचना करती है, क्योंकि अमृता जानती है कि उसको न्याय भारत के संविधान से ही मिल सकता है और उस संविधान के रचयिता बाबा भीमराव अंबेडकर हैं। जिन्होंने इस समाज में दबे कुचले, दलित समाज का उद्धार किया है और उनको सवर्णों के सम्मुख सीना तानकर खड़ा होने का साहस प्रदान किया है। इसी उम्मीद से अमृता भी बाबा भीमराव अंबेडकर की प्रतिमा के सामने खुद को नतमस्तक करते हुए अपनी बात रखती है। क्योंकि उसकी आशाएं बाबा भीमराव अंबेडकर पर टिकी हुई हैं और उसको ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान में नहीं तो भविष्य में सही उसका उद्धार संविधान के माध्यम से ही होगा। कुछ समय बाद उसी प्रतिमा के करीब बैठकर एक किन्नर टोली ने उसे देख लिया उसे देख कर उनमें कुछ अपनापन महसूस हुआ। इसी अपनेपन के कारण बड़े शहर में तन्हा बैठी किन्नर लड़की को सिर छुपाने के लिए एक छत चाहिए थी वो उसको रानी मां के मठ में मिल गयी।

प्रारंभ से अमृता पढ़ाई में होशियार थी और उसके संस्कार भी बाबा भीमराव अंबेडकर के रूहानी सानिध्य में मिले थे। वह बाबा के सिद्धांत और उनकी शिक्षाओं को अच्छे से समझती थी उस प्रतिमा के पास बैठकर उसको अपने अधिकारों का ज्ञान हो चुका था। इसलिए उस उभयलिंगी अमृता ने शिक्षा का माध्यम पकड़ने में रुचि दिखाई, क्योंकि वो मठ में किन्नरों का जीवन व्यतीत भी कर चुकी थी, और उसका अनुभव भी ले चुकी थी। उसको वहां पर कुढ़न सी महसूस होती थी। मठ में किन्नरों का वही परंपरागत जीवन फलक था जिसको वो भली–भांति जान चुकी थी और उस नरक से स्वयं को और अपने समाज को निकालने की जुगत में लग गई। जहां पर उसको शिक्षा ही अहम हथियार दिखाई दिया जिसके माध्यम से वह अपने समाज और देश को बदलने के लिए निकल पड़ी और अपनी इच्छा से मठ की गुरु रानी मां को बता दिया। रानी मां ने बहुत उसको सोच– विचार करके पढ़ने के लिए भेजा और उसके साथ दूसरी किन्नर बहन को साथ कर दिया जिससे उसको कॉलेज में प्रवेश लेने में किसी कठिनाई का सामना ना करना पड़े। जैसा कि विदित है 'मुझे पढ़ना है रानी मां! मुझे किसी कॉलेज में दाखिला लेना है।' 'बस ! इतनी सी बात?' उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखा फिर नोटों की गड्डी सुगनाबाई को थमाते हुए मेरा दाखिला कॉलेज में कराने का बोल दिया।[5] इस प्रकार रानी मां ने स्थिति को भाँपते हुए अमृता को शिक्षा का दान दे दिया क्योंकि रानी मां समझ चुकी थी यह लड़की विद्रोह कर देगी और वैसे भी शिक्षा पाने के लिए ही तो संघर्ष कर रही है यदि शिक्षा में प्रवीण हो जाएगी तो निश्चित ही किन्नर समाज की भलाई के लिए प्रयास करेगी जिस प्रकार से हम समाज में नरकिय जीवन व्यतीत करने में लगे हैं भविष्य में हमारी भावी पीढ़ियों को भी इस दुख से ना गुजरना पड़े। यदि कोई किन्नर पढ़ लिखकर अच्छा जीवन व्यतीत करेगा तो निश्चित ही वो आने वाली पीढ़ियो के लिए रोल मॉडल का कार्य करेगा। इन्हीं सब आशाओं के मद्देनजर रानी माँ ने उसकी सुरक्षा तथा रहने की व्यवस्था हॉस्टल में ना करके बल्कि पीजी रूम में स्थान दिलाया। जिससे उसको किसी भी प्रकार की लिंगभेदी घटनाओं का सामना ना करना पड़े और वह अच्छे से अपने शिक्षा को सुचारू रूप से आगे बढ़ा सके।

अमृता कॉलेज में प्रवेश लेने के बाद अपने पढ़ाई लिखाई में संलग्न हो गई। अमृता इतनी अंदर से मजबूत थी कि उसने कॉलेज के फॉर्म में अपने लिंग को नहीं छुपाया बल्कि खुलेआम लिंग वाले कोष्ठक में ट्रांसजेंडर लिख दिया। कॉलेज के मित्र और छात्र नेता रहे अनुराग ने अमृता से नज़दीकियां बढ़ा ली। क्योंकि अनुराग ने प्रवेश के समय अमृता की बहुत मदद की थी इसलिए अमृता उसके एहसान का बदला चुकाना चाहती

थी। कॉलेज में स्टूडेंट यूनियन का चुनाव हुआ तो अमृता ने तनदृमनदृधन से अनुराग का साथ दिया। अनुराग भी उसको खूब सम्मान देता था और उसके अधिकारों के लिए प्रयत्नशील था। वह अपनी छात्र राजनीति के माध्यम से दबे–कुचले, बहिस्कृत लोगों को उनके मौलिक अधिकार दिलाने के लिए प्रयासरत था। इसी के मद्देनजर कॉलेज की बहुत सी लड़कियां अनुराग से प्रेम करती थी लेकिन अनुराग किसी को भाव नहीं देता था उसका अंदरूनी बंधन अमृता से मजबूत होता गया और वह अक्सर अमृता के साथ घूमता हुआ मिल जाता था कई बार साथी सहपाठियों ने भी उस पर फब्तियाँ कसी लेकिन कई बार अनुराग और अमृता ने खून के घूंट पी लिए और उनको पलट कर जवाब नहीं दिया यद्यपि अनुराग एक रौबदार छात्र नेता था। जो चाहता तो उनको अपनी बलिष्ठता से जवाब दे सकता था लेकिन उसने अपनी सामर्थ्य को बचा कर रखा और हमेशा अमृता को तरजीह दी जिससे उनके सम्मुख प्यार और गहरा हो गया। अक्सर अनुराग अमृता से एक ही बात कहता था 'तुम बहुत खूबसूरत हो! बहुत ही खूबसूरत। बिल्कुल ख्वाबों की ताबीर थी।'[6]

इस प्रकार मित्र अनुराग अमूमन अमृता से अपने प्रेम का इजहार करता था और अमृता धीरे से मुस्कुरा देती थी तथा कुछ भी टीका टिप्पणी नहीं करती थी क्योंकि वह जानती थी वह आधे शरीर से स्त्री है और आधे शरीर से पुरुष अर्थात उसको अर्धनारीश्वर के सामान ही देखा जा सकता है। इन्हीं सब कारणों के बीच अमृता अनुराग से स्वयं दूर हो गई और अनुराग भी स्कॉटलैंड चला गया कुछ समय बाद वहां से अपनी प्रेमिका के साथ भारत आ गया लेकिन इस दरमियान अमृता उसकी राह देखती रही लेकिन उसका कुछ पता नहीं चला। स्कॉटलैंड जब अनुराग अपनी प्रेमिका के साथ भारत आया तो विवाह संस्कार की संबंध में पंडित से पूछा तो पंडित ने बताया कि नैंसी मांगलिक है उसके साथ किसी किन्नर को रखा जाएगा तो वह आमांगलिक हो जाएगी। इसके बाद अनुराग और उसकी मां ने निर्णय लिया यदि अमृता को नैंसी के साथ रख दिया जाएगा तो निश्चित ही विवाह संस्कार के लायक बधु हो जाएगी इसी प्लानिंग के तहत अनुराग अमृता के पास गया और उसको बताया कि मां उससे मिलना चाहती है और शादी के संबंध में बात करना चाहती है। यह सुनकर अमृता भावदृविभोर हो गई और प्रसन्नचित्त मुद्रा में आसमान में उड़ने लगी जब अनुराग के साथ अमृता उसके घर गई तो अनुराग की मां ने अमृता को सारी बात बताई।

जब अमृता को मालूम हुआ कि उसके साथ शादी की बात ना करके नैंसी का ग्रह दोष खत्म करने का कार्य करना है वह अपने मित्र अनुराग की खुशियों के खातिर खुद के सपनों को रौंदकर अनुराग को खुशियां उपहार स्वरूप देने में लग गई और अपनी मानवता का परिचय दिया। इस प्रकार पूरे उपन्यास में मानवीय संवेदनाओं का झुरमुट दिखाई पड़ता है किन्नर समाज कभी भी अपनी खुशियों के लिए नहीं वह तो सदा दूसरों की खुशियों में शामिल होता आया है, और सबको खुशियां ही खुशियां देता है ऐसा प्रकृति का नियम है जिसको अमृता स्वयं कहती है "मुझे तो प्रकृति का वरदान है कि मुझे खुश नहीं होना। मेरा तो जन्म ही दूसरों की खुशियों में शामिल होने के लिए हुआ है, फिर तुम तो मेरे अपने हो। तुमने मेरे लिए बहुत कुछ किया और सहा है। मुझे एक मौका कुदरत ने दिया है कि मैं भी तुम्हारे लिए कुछ करूं!"[7] उपर्युक्त पंक्तियों से प्रतीत होता है कि एक ट्रांस जेंडर अपने जीवन में कितने समझौता करता है और समाज को कुछ ना कुछ ऐसा देने की चाहत रखता है जिससे इस मानवता की सेवा हो सके। जिसको अमृता ने अपने प्रेमी और छात्रनेता अनुराग के पिए किया। क्योंकि उसकी विदेशी प्रेमिका नैंसी को पंडित जी ने मांगलिक बताया था और जिसके लिए उसको एक किन्नर के साथ रहने का सगुन पूरा करना था। इस प्रकार अमृता ने अपनी भावनाओं को किनारे करके अपने मित्र को एक नया जीवन साथी देने के लिए कार्य किया। उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि एक महिला किन्नर समाज को अपना सबकुछ दे सकती है अगर हम उसकी अस्मिता की रक्षा करें उसको समानता का अधिकार दे, तथा किसी भी प्रकार का भेदभाव ना करें।

संदर्भ–सूची :–

1. डॉ. राजकुमारी, द डार्केस्ट डेस्टिनी , देवसाक्षी प्रकाशन हनुमानगढ़, राजस्थान संस्करण 2021, पृष्ठ 86।
2. वही, पृष्ठ 104।
3. वही, पृष्ठ 105।
4. वही, पृष्ठ 108।
5. वही, पृष्ठ 137।
6. वही, पृष्ठ 158।
7. वही, पृष्ठ 173।

भूमण्डलीकरण का यथार्थ और चित्रा मुद्गल का कथा-साहित्य

प्रखर*

शोध सार :– वर्तमान में भूमण्डलीकरण के द्वारा उत्पन्न औद्योगीकरण, शहरीकरण ने सामाजिक–पारिवारिक ढांचे को प्रभावित किया है। प्राचीन ऋषि–मुनियों की भूमि की शिक्षा तथा उससे प्राप्त शांति जिसकी गूंज एक समय विश्व भर में थी वह खोती जा रही है। इस परिवर्तन को चित्रा मुद्गल जी ने बहुत सूक्ष्म दृष्टि से देखा तथा उसे यथार्थ व मार्मिक तरीके से अभिव्यक्त किया है। उन्होंने अपने कथा–साहित्य में विज्ञापन जगत की चमक का खोखलापन, नकारात्मक प्रतिस्पर्धा, नारी, वृद्ध, किन्नर, बालक के शोषण का चित्रण किया है। जिसका जीवंत वर्णन उपन्यास एक जमीन अपनी, आवां, गिलिगडु तथा तमाम कहानियों जैसे हस्तक्षेप, गेंद, पेशा, अनुबंध, जरिया, जंगल, जिनावर आदि में किया है। भूमण्डलीकरण का प्रभाव सामाजिक पारिवारिक, सम्बन्धों, प्रकृति तथा मानव मूल्यों पर भी पड़ा है। जिसका यथार्थ वर्णन चित्रा जी अपने कथा साहित्य में करती है। चित्रा जी भारतीय संस्कृति पहचानने, पारिवारिक प्रेम तथा उसकी गरिमा व यश को बनाये रखने का संदेश देती है।

बीज शब्द – बाजारवादी संस्कृति, उपभोक्ता, विडम्बना, विज्ञापन, साहित्यकार, मनोरंजन, औद्योगीकरण, पाश्चात्य आदि।

शोध पत्र :– इक्कीसवीं सदी की दुनिया में प्रति वर्ष बदलाव आ रहा है। यह परिवर्तन राजनीतिक, सामाजिक, प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर हो रहा है इसका प्रमुख कारण भूमण्डलीकरण है। भूमण्डलीकरण का प्रभाव हमारे दैनिक जीवन पर निरंतर पड़ रहा है। हमारी भाषा, रहन–सहन शिक्षा–दीक्षा, वेश–भूषा भी इससे प्रभावित है। वर्तमान में सारे संसार को एक गांव के रूप में देखा जा रहा है। उपभोक्तावादी, बाजारवादी संस्कृति हर घर पर दस्तक दे रही है। प्रत्येक घर के दरवाजों पर बड़ी–बड़ी कम्पनियों के विज्ञापन का माया जगत निरंतर दस्तक दे रहा है। जिसके कारण हमारे कुछ मानवीय मूल्यों का निरंतर ह्रास भी हो रहा है। जिस पर अगर समय रहते हुये चिंतन नहीं किया गया तो हमारे सांस्कृतिक–सामाजिक मूल्य नष्ट हो जायेंगे और भारतीय संस्कृति अपना मूल रूप खो देगी। भूमण्डलीकरण के प्रभाव में आकर बदलती दुनिया तथा बदलते भारतीय सामाजिक मानवीय मूल्य का यथार्थ चित्रण समकालीन रचनाकारों की रचनाओं में मिलता है। इन्हीं रचनाकारों में एक सशक्त हस्ताक्षर हैं प्रसिद्ध साहित्यकार चित्रा मुद्गल जी। इन्होंने अपने कथा साहित्य के माध्यम से भूमण्डलीकरण और उससे उपजी विडम्बनाओं, गिरते मानवीय मूल्यों के विरूद्ध एक आवाज उठाने का सशक्त प्रयास किया है। सन् 1990 में रचित चित्रा मुद्गल जी का प्रथम उपन्यास 'एक जमीन अपनी' इसका जीवंत दस्तावेज है। इसका अंग्रेजी व मराठी में अनुवाद क्रमशः द क्रुसेड, 'माझी भूमि' के नाम से प्रकाशित है। आज हर व्यक्ति दूसरे को पीछे करके आगे निकल जाने की घुड़दौड़ लगा रहा है। भौतिक सुखों के पीछे भागते व्यक्ति अपनी जमीन और संस्कृति को खोते जा रहे हैं। यह उपन्यास विज्ञापन जगत के यथार्थ और ग्लैमर की दुनिया में स्त्रीत्व के पहचान के संघर्ष को भी मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करता है। 'एक जमीन उपन्यास' विज्ञापन कंपनियों से जुड़कर काम करने वाली दो युवतियों की कथा है। इस उपन्यास के दो नारी पात्र है अंकिता और नीता। उपन्यास की नायिका अंकिता घर वालों के विरोध के बावजूद सुधांशु से प्रेम विवाह करती है फिर बाद में सम्बन्ध विच्छेद करके अपने पैरों पर खड़े होने का निश्चय करती हुयी विज्ञापन जगत में प्रवेश करती है। वह मुम्बई के चमक–दमक, प्रतिस्पर्धा, अपराध व सेक्स के ताण्डवपूर्ण वातावरण में विज्ञापन फिल्मों के

*** शोधार्थी–हिन्दी विभाग, हे. न. ब. ग. केन्द्रीय विश्वविद्यालय, श्रीनगर उत्तराखण्ड।**

चक्रव्यूह में फँसकर भी वह अपने अस्तित्व और चरित्र को बचाकर रखती है। जबकि नीता आगे बढ़ने के लिये शोषण को सही ठहराती है और शोषण को पुरुष दासता से मुक्ति, स्वच्छंद निर्बाध और आत्मविकास का साधन मानती है। नीता अंकिता से इस क्षेत्र में सफल बनाने का मार्ग बताते हुये कहती है– ''तुम नहीं जानती अंकू! नौकरी और प्रतिभा दो अलग–अलग चीजे हैं.... कभी कभी वे दोनों को एक साथ, एक मंच पर होने का अवसर और सम्मान देते हैं लेकिन अकसर नहीं.... वे खरीदार हैं।.... यह ग्लैमर की दुनिया है यहाँ जीने की, जी पाने की पहली शर्त है– विशिष्ट दिखना, विशिष्ट करना, विशिष्ट होना, विशिष्ट बनना– जो वास्तविक नहीं है।''[1] विज्ञापन क्षेत्रों का जुड़ाव समाचार पत्रों, पत्रकारिता इलेक्ट्रिक मीडिया तथा प्रिंट मीडिया से जुड़ा रहा है ऐसे विज्ञापन जो अविवेकपूर्ण होते हैं समाज के लिये सकारात्मक नहीं होते हैं वे मानव के कोमल मन–मस्तिष्क को दूषित कर देते हैं उसे अपने देश, समाज परिवार के प्रति कर्तव्यों के पथ से भटका देते हैं। अंकिता रेलवे प्लेटफार्म की दीवार पर लगे पोस्टरों को देखकर कहती है– ''कितना अश्लील पोस्टर है। फिल्म कैसी होगी– यह पोस्टर से अनुमान लगाया जा सकता है।''[2] भूमण्डलीकरण के इस अंधे भौतिकवादी बाजारवादी दौर ने आम इंसान को मानव की संज्ञा से हटाकर सिर्फ 'उपभोक्ता' बना दिया है। परिणामतः मानव उपभोक्ता बनकर सिर्फ सुख एवं मनोरंजन की तलाश में है। उपभोग करके वस्तु फेंक देना इस संस्कृति का आदर्श व विशेषता बन गयी है। आज इस बाजारवादी संस्कृति में मानव भी दूसरे के साथ वस्तु पर्याय व्यवहार करता है। मानव इस बाजार में बंदी बन गया है। मानवीयता के सम्बन्धों में सिर्फ स्वार्थ आ गया है। मानव संवेदना से शून्य हो गया है। 'एक जमीन' अपनी उपन्यास में नीता इस प्रकार उपभोग संस्कृति की शिकार बनकर रह गयी है। जैसे उसका कोई जमीर ही नहीं रह गया है वह विज्ञापन जगत की सफलता के लिये शार्ट कट अपनाकर वह ऊँचाई पर पहुंच तो जाती है परंतु जल्दी ही उसकी सारी सफलता भर–भरा कर नीचे गिर जाती है। वह आब्जर्वेशन एडवरटाइजिंग के मैथ्यू से कहती है– ''डोंटवरी मुझे रख लीजिये। मेरे साथ वह वर्जनाएँ नहीं है, जो अंकिता के साथ है।''[3]

वर्तमान में विज्ञापन के नये विकसित प्रयासों में भाषा का बहुत महत्वपूर्ण योगदान है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने भाषा को भी बाज़ारू बना दिया है। जिसका प्रमाण भारतीय भाषाओं की प्रकृति व उसके विकास पर पड़ रहा है। हमारी भाषाओं की गरिमा, उदात्तता व मूल्य बोध का स्तर नीचे गिरता जा रहा है। उसकी जगह मिश्रण संस्कृति की भाषाओं का चलन बढ़ रहा है। विज्ञापनों को आकर्षित व प्रभावशाली बनाने के लिये भाषा की आत्मा को ही परिवर्तित कर दिया जा रहा है। अधिकतर विज्ञापन अंग्रेजी भाषा में तैयार हो रहे हैं। जो क्षेत्रीय भाषाओं में अनुदित होकर आ जाते हैं। जिससे क्षेत्रीय भाषाओं की सहज शैली व निजता नष्ट हो जाती है। मेहता कहता है– ''विज्ञापनों को जो मूलतः अंग्रेजी में लिखे जाने की परम्परा बनी हुयी है, समाप्त होनी चाहिये, क्योंकि अंग्रेजी से तैयार की गयी कापियाँ मात्र अनुवाद बन कर रह जाती है। उसमें प्रान्तीय भाषाओं की निजी खुश्बू, सोंधापन, अपने मुहावरे और अभिव्यक्ति का भाषाई अंदाज पैदा नहीं होता।''[4] 'वसुधैव कुटुम्बकम' का ध्येय वाक्य लेकर चलने वाले भारत में ग्रामीण स्तर पर भारतीयकरण का पश्चिमीकरण हो गया है। आज मनुष्य भौतिक सुख, समृद्धि और विकास के उच्चतम स्तर को प्राप्त करने के नशे में अपनी संस्कृति व सभ्यता को भूल गया है। आज भारतीय संस्कृति का आधार रहे संयुक्त परिवार खत्म हो रहे हैं। विदेशी संस्कृति ने मां–बाप को ईश्वर मानने वाली भारतीय संस्कृति को 'उपभोग करो और फेंक दो' की संस्कृति में बदल दिया है। भूमण्डलीकरण के प्रभाव के पूर्व बुजुर्ग मां–बाप का घर में रहना अच्छा माना जाता था परंतु आज वर्तमान में बुजुर्गों का घर में रहना एक अभिशाप बन गया है। जिसका वर्णन 'गिलिगडु' उपन्यास में किया गया है। चित्रा जी मानवीय संवेदना को बहुत मार्मिक तरीके से व्यक्त करती है तथा बदलते सामाजिक गतिविधियों पर सूक्ष्म दृष्टि रखती है। 'गिलिगडु' सेवानिवृत्त सिविल इंजीनियर बाबू जसवंत सिंह और रिटायर्ड कर्नल विष्णु नारायण स्वामी दोनों की कथा है जो सेवानिवृत्त होने के बाद यह उम्मीद करते हैं कि परिवार से उन्हें प्यार मिलेगा परंतु इसके विपरीत उन्हें उपेक्षा, ईर्ष्या और द्वेष मिलता है उनकी स्थिति घर में एक पालतू कुत्तों की तरह हो जाती है। ऐसा इसलिये कि जब सेवानिवृत्त होने पर जसवंत सिंह अपने बेटे नरेन्द्र के पास आकर रहने लगते हैं तो उन्हें कुत्ता टोनी के साथ रहना पड़ता है। बहू सुनयना के मन में ससुर के प्रति कोई आत्मीयता नहीं रहती है वह मजबूरी में जो

दिखावे की सेवा करती है वह मृत सास के गहनों और श्वसुर की सम्पत्ति हड़पने की आकांक्षा के कारण करती है। ''पिज्जा, बर्गर, नूडल्स रशियन सलाद बगैरह उन्हें नहीं भाते, न हजम होते हैं, फ्रिज में रखा घासी फूसी वह नहीं खा सकते। उन्हें अनिच्छा प्रकट करने का अधिकार नहीं।''[5] घर में बुजुर्गों को क्या पसंद है क्या पसंद नहीं है कि इससे किसी को कोई मतलब नहीं रह गया है। उनकी एक गलती उन्हें घर में सबसे बड़ा अपराधी बना देती है उन्हें कटु वचन सुनने को मिलता है। एक बार पड़ोसिन मिसेज रावत सुनयना से शिकायत की कि जसवंत सिंह ने उनकी बेटी को देख पायजामा खोल दिया है। इस बात पर बहू सुनयना श्वसुर से कहती है– ''आखिर बाबू जी इस संभ्रांत सोसाइटी में उनकी इज्जत खाक में मिलाने पर क्यों उतारू हैं? अपनी उम्र का लिहाज किया होता। अभी भी जवानी का जोश बाकी हो तो दिक्कत कैसी? चले जाया करें रेडलाइट एरिया।''[6] सच्चाई यह थी कि जसवंत सिंह निरपराधी थे। वे पाइल्स जैसे रोग से ग्रस्त थे अपने मस्सों में मरहम लगाने के लिये कपड़े बदले होंगे गलती से खिड़की खुली रह गयी होगी। चित्रा जी आज की पीढ़ी को चेतावनी देती है कि पारिवारिक जीवन विखण्डित होगा तो भारतीय समाज भी विखण्डित हो जायेगा। भारतीय संस्कृति व समाज का मेरूदण्ड रूपी उसका पारिवारिक जीवन पूंजीवादी देशों के स्वार्थ का कांटा है। भूमण्डलीकरण की आंधी में सुंयक्त परिवार व उसमें प्रेम भाव जो कि भारतीय गरिमा का मूल है, नष्ट होता जा रहा है। चित्रा मुद्गल ने कहानी 'गेंद' में आधुनिक वृद्धाश्रम व्यवस्था को दिखाते हुये यहां रहने वाले वृद्धों की विडम्बना व पीड़ा की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। बचपन में पिता के कठोर अनुशासन व सख्त नियंत्रण के कारण कभी–कभी बच्चों में विशेषकर पिता के प्रति घृणा भाव पैदा होना स्वाभाविक हैं। कहानी 'दशरथ कर वनवास' में रमानाथ पिता से आतंकित होने की वजह से वह पिता से नफरत करने लगता है और पिता की मृत्यु पर भी वह नहीं जाता है। पिता की मृत्यु के बाद उसे एक पार्सल मिलता है जो उसे पिता की इच्छानुसार भेजा गया था जिसमें साथ एक पत्र भी था जिसके पुर्जे पर लिखा था– ''चि बबुन सोचा था, तुम दफ्तर जाने लगोगे तब तुम्हे यह साइकिल भेंट करूंगा। तुम दफ्तर जाने लगे, मगर तुमसे भेंट नहीं हो पाई। तुम्हारी अमानत अब नहीं संभाल रहा, तुम्हारे पास भिजवा रहा हूँ....।'' रमानाथ पत्र को पढ़कर जान पाया कि पिता के कठोर व्यक्तित्व के पीछे एक कोमल हृदय भी था परंतु पिता पुत्र को अनुशासित करने के लिये कभी–कभी इतना कठोर हो जाते हैं कि पुत्र पिता से घृणा–भाव रखने लगते हैं। यह कहानी पिता–पुत्र संबंध की असफलता पर प्रकाश डालती है।

प्रकृति माँ के समान है जो ईश्वर का अमूल्य उपहार है चित्रा जी अपने अपने कथा साहित्य में भूमण्डलीकरण के प्रभाव को सिर्फ समाज–परिवार के सीमा तक अभिव्यक्त नहीं करती है बल्कि प्रकृति पर पड़े प्रभाव पर भी प्रकाश डालती है। वर्तमान में भूमण्डलीकरण के कारण उपभोक्तावादी संस्कृति ने औद्योगीकरण को जन्म दिया, फल स्वरूप मनुष्य एवं प्रकृति के बीच का सम्बंध सिर्फ शोषण में बदल गया। चित्रा जी की कहानियाँ–'जिनावर' और 'जंगल' पशुओं के साथ मानव की गहरी संवेदना को उद्घाटित करती है। वर्तमान में मनुष्य संवेदनाओं से शून्य बनता जा रहा है। 'जिनावर' घोड़ी सरवरी और मालिक असलम के बीच संवेदनाओं के सम्बंध को अभिव्यक्ति करती हुयी प्रसिद्ध कहानी है जिसमें घोड़ी किसी बीमारी से ग्रस्त है और असलम के पास उसका इलाज कराने का पैसा तो दूर उसका पेट भरने के लिये चने भी नहीं है उसकी मृत्यु निश्चित है इसे असलम अपने लिये एक अवसर के रूप में देखता है और उसे गाड़ी से भिड़ा देता है जिससे उसकी मौत हो जाती है उस गाड़ी वाली लड़की से दुर्घटना के मुआवजे के रूप में असलम दो हजार रूपये ले लेता है। घर आकर वह एक रात अचानक रोने लगता है पत्नी जुबैदा के कारण पूछने पर उसने कहा कि ''नहीं वह जुदा नहीं हुयी, उसके जुदा होने से पहले ही मैंने उसे मार दिया, मैंने उसकी मौत से सौदा कर लिया बीबी। जान बूझकर उसे गाड़ी से भेड़ दिया! यही सोचकर कि अपनी मौत तो वह मरेगी ही, आगे–पीछे किसी गाड़ी से भेड़ दूंगा तो वह मरते–मरते अपनी कीमत अदा कर जायेगी ये नोट, नोट नही मेरी सरवरी की बोटियाँ हैं..... बोटियाँ।''[8] असलम का पश्चाताप उसके मन परिवर्तन की भावना को व्यक्त करते हैं। मानव का पशुओं को वही प्रेम करना चाहिये जो वह पारिवारिक सदस्यों से करता है। आजकल तो यह भी देखा जाता है कि पालतू पशु जैसे गाय, कुत्ता को तब तक लोग घर में रखते हैं जब तक वह कार्य करने में सक्षम होते हैं उसके बाद उन्हें सड़क पर खुला छोड़ दिया जाता

है जिसके बाद वह दर–दर भटकते हैं। जीव–जंतुओं की सुरक्षा प्रकृति संतुलन के लिये जरूरी है। इसी कारण हमें प्रकृति के हर अंग से प्रेम करना चाहिये। प्रकृति से प्रेम करेंगे तो ही हम मनुष्यों से भी प्रेम करेंगे हमारे भारतीय संस्कृति में प्रकृति की पूजा की जाती है। वनों, नदियाँ, सागर, पोखरा, खेत, तमाम तरह के पेड़ों की पूजा की जाती है। हमारा कर्तव्य है कि हम चाहे जितना विकास कर ले अपनी संस्कृति को न भूले। भूमण्डलीकरण व उससे उपजी उपभोक्तावादी संस्कृति ने सामाजिक मूल्यों का भी ह्रास किया है चित्रा जी की कहानी 'वाइफ स्वैपी' कहानी में वर्तमान में उच्च वर्ग के समाज में विकृत होती जा रही भारतीय संस्कृति का यथार्थ चित्रण किया गया है। जिसमें उच्च वर्ग के पुरुषों द्वारा स्त्रियाँ बदलने का खेल (क्लब) खेला जाता है जिसमें चित्रा जी ने पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण तथा भारतीय उच्च वर्ग में बढ़ती अश्लील तथा घिनौनी 'क्लब' संस्कृति पर तीखा व्यंग्य किया है। इसी प्रकार इलेक्ट्रानिक माध्यमों (मीडिया) का दुष्प्रभाव को सूचित करने वाली कहानी है– 'अढ़ाई गज की ओढ़नी' इसमें भी यह दिखाया गया है कि किस प्रकार पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव बच्चों पर पड़ रहा है जो बच्चों की नैसर्गिक संवेदनाओं को कम करता जा रही है। शहरीकरण, औद्योगीकरण, शहरीकरण के कारण मानवीय जीवन यंत्रवत हो गया है जहाँ मानवीय संवेदनाएं नष्ट होती जा रही है। मनुष्य भोग–संभोग में लिप्त हो जा रहा है परिणामतः कुंठा, अवसाद, अकेलापन से ग्रसित होता जा रहा है जिससे निकलने का रास्ता उसे दिखाई नहीं देता है। आधुनिकता के दौड़ में पति–पत्नी सम्बंध, पारिवारिक–अभिभावकीय सम्बंध कटु हो जा रहे हैं जिसे हमें पहचानना होगा। हम अपनी जड़ (मूल) को भूलकर उन्नति नहीं कर सकते हैं। मानव को प्रकृति से प्यार करना होगा और प्रकृति प्रदत्त सभी जीव जगत से भी प्यार करना होगा। चित्रा मुद्गल जी विदेशी संस्कृति की अच्छी बातों को अपनाकर बुराई से दूर रहने की संदेश देती है। जिससे हमारी संस्कृति की गरिमा और उसका यश बना रहे।

संदर्भ–सूची :–

1. चित्रा मुद्गल, एक जमीन अपनी, राजकमल प्रकाशन 2001, पृ. 88।
2. चित्रा, मुद्गल, एक जमीन अपनी, राजकमल प्रकाशन 2001, पृ. 132।
3. चित्रा मुद्गल, एक जमीन अपनी, राजकमल प्रकाशन, 2001, पृ. 244।
4. चित्रा मुद्गल, एक जमीन अपनी, राजकमल प्रकाशन, 2001, पृ. 35।
5. चित्रा मुद्गल, एक जमीन अपनी, राजकमल प्रकाशन, 2001, पृ. 39।
6. चित्रा मुद्गल, गिलिगडु, सामयिक प्रकाशन, 2002, पृ. 59।
7. चित्रा मुद्गल, आदि–अनादि कहानी संकलन भाग–एक सामयिक प्रकाशन, 2018, पृ. 27।
8. चित्रा मुद्गल, आदि–अनादि कहानी संकलन भाग–एक सामयिक प्रकाशन, 2018, पृ. 52।

महिला साहित्यकारों का हिन्दी साहित्य के विकास में अवदान
(आदिकाल से आधुनिक काल तक)

डॉ. राकेश कुमार*

'साहित्य' शब्द सहित+यत् प्रत्यय से मिलकर बना है। जिसका अर्थ होता है शब्द और अर्थ का यथावत सहभाव अर्थात् साथ होना। कुछ विद्वानों ने साहित्य शब्द को सहित अर्थात् (स+हित) को पृथक करते हुए हितकारक रचना को 'साहित्य' बताया है। 'साहित्य' शब्द का प्रचलन इस अर्थ में सातवीं–आठवीं शती से हुआ है। इससे पहले संस्कृत में 'साहित्य' के स्थान पर 'काव्य' शब्द का ही प्रयोग मिलता है। भामह, मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ, राजशेखर, कुन्तक प्रभृति आचार्यो ने काव्य की परिभाषा करते हुए शब्द और अर्थ के सहभाव को ही काव्य बताया। भामह ने काव्य की परिभाषा में कहा– शब्दार्थो सहितौ काव्यम् अर्थात् शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य की संज्ञा दी, मम्मट ने कहा– तददोषौ शब्दार्थो सगुणावनंलकृति पुनः क्वापि अर्थात् दोषरहित, सगुण रचना काव्य है। विश्वनाथ ने परिभाषा दी– वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा में कहा– रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी साहित्य की विभिन्न परिभाषाएं की हैं। अरस्तू ने "शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत अनुकृति को काव्य या साहित्य की संज्ञा दी है। सिडनी के विचार से 'काव्य या साहित्य वह अनुकरणात्मक कला है जिसका लक्ष्य शिक्षा और आनंद प्रदान करना है।" कालरिज के अनुसार– "काव्य रचना का वह विशिष्ट प्रकार है जिसका तात्कालिक लक्ष्य प्रसन्नता प्रदान करना होता है।" शेली के विचार से– "काव्य सर्वाधिक सुखी एवं श्रेष्ठतम हृदयों के श्रेष्ठतम क्षणों का लेखा–जोखा है।"[1]

हिन्दी साहित्य के प्रमुख आलोचनकों ने साहित्य की परिभाषा दी है जिसमें आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी ने अपनी परिभाषा में कहा कि– साहित्य से हमारा आशय उन विशिष्ट और प्रतिनिधि रचनाओं से है, जो किसी युग के भावात्मक जीवन का प्रतिमान होती हैं, जो समाज और सामाजिक जीवन को भली या बुरी दशा में ले जाने का प्रबल सामर्थ्य रखती हैं। डॉ0 रामविलास शर्मा ने साहित्य की परिभाषा में कहा है कि साहित्य जनता की वाणी है। उसके जातीय चरित्र का दर्पण है। प्रगति पथ में बढ़ने के लिए उसका मनोबल है। उनकी सौन्दर्य की चाह पूरी करने वाला साधन है। पन्त ने अपनी परिभाषा में कहा– साहित्य अपने व्यापक अर्थ में, मानव जीवन की गम्भीर व्याख्या है। जब संस्कृत में 'काव्य' और 'साहित्य' दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में होने लगा तो आगे चलकर काव्य का अर्थ संकुचित हो गया। वह केवल कविता तक सीमित रह गया। जबकि 'साहित्य' का प्रयोग व्यापक रूप में– नाटक, उपन्यास, कहानी, समीक्षा, रिपोर्ताज, संस्मरण, रेखाचित्र, डायरी आदि, सभी गद्यात्मक विधाओं के लिए होने लगा। इस प्रकार 'साहित्य' शब्द 'काव्य' का परवर्ती एवं उत्तराधिकारी होते हुए भी आज अपने पूर्वज से अधिक समृद्ध, व्यापक एवं विकसित है।

साहित्य के क्षेत्र में जहाँ महाकवियों ने साहित्य को एक नवीन दिशा प्रदान की, वहाँ महिलाओं ने भी अपनी अमूल्य कृतियों से हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में विशेष योगदान दिया। परन्तु भारत का दुर्भाग्य था कि यहाँ पुरुषों की भाँति स्त्रियों की शिक्षा–दीक्षा का अभाव रहा अन्यथा यहाँ जितने पुरुष साहित्यकार हुए, उनसे अधिक महिला साहित्यकार होती। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में तो कोई महिला साहित्यकार प्रकाश में नहीं आई। उसके पश्चात् अन्य सभी कालों में महिलाओं ने साहित्य की समृद्धि में अमूल्य योगदान दिया है। भक्तिकाल की मधुर एवं कोमल साहित्यिक प्रवृत्तियाँ महिलाओं के रुचि के अनुकूल थीं। इस काल में कई उच्चकोटि की महिला कवयित्रियों के दर्शन होते हैं। इन्होंने निराकार ईश्वर और श्रीकृष्ण को पति के

*असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी), एस. एस. वी. कॉलेज, हापुड़।

रूप में स्वीकार करके अपने अन्तर्मन की भावनाओं को कोमलकान्त पदावली द्वारा व्यक्त किया। भक्तिकालीन महिला कवयित्रियों में सहजोबाई, दयाबाई और मीराबाई का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सहजोबाई की रचना का नाम 'सहज प्रकाश' है। सहजोबाई ने निराकार ईश्वर के प्रति अनूठी उक्तियाँ कहीं है। जैसे–

"गोविन्द के गुण क्यों नहीं गावो।
ममता नींद कहा मन सूतो जागि हरिसू चितलावो।।"
गुणगावत बहु पतित उधारे ऊँची पदवी दीन्हीं।
जाति करण सूँऊ पर कीन्हें आधि वयाधि विपदा हर लीन्ही।।

अर्थात् अरे मानव! तुम परमात्मा के गुण क्यों नहीं गाते? तुम ममता माया–मोह की नींद में क्यों सोये हुए हो? तुम अपने मन को जगाओ और भगवान की भक्ति में अपना चित्त लगाओ। भक्तिपूर्वक गुणगान करने वाले उनके पतितों का प्रभु ने उद्धार किया है और उन्हें ऊँचा स्थान दिया है, उन्हें जाति एवं वर्ण से ऊपर उठाया है और भगवान ने उनकी आधि, व्याधि एवं विपदा को नष्ट किया है।"[2] दयाबाई ने अपनी कविता में सर्वस्व समर्पण और वैराग्य को महत्व दिया। इनकी प्रमुख रचना दयाबोध व विनयमलिका है। इनका एक दोहा इस प्रकार है–

"जो पग धरत सो दृढ़ धरत, पग पाछे नहिं देत।
अहंकार कूँ मार करि, रामरुप जस लेत।।
कायर कँपै देख करि, साधू को संग्राम।
सीस उतारै भुइँ धरै, जब पावै निज ठाम।।"[3]

दयाबाई के पश्चात् मीराबाई का नाम आता है, मीराबाई भक्ति साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री थीं। मीराबाई की कोमलवाणी ने भारतीय साहित्य में प्रेम और आशा से भरी हुई वह पावन सरिता प्रवाहित की, जिसकी वेगवती धारा आज भी भारतीय अन्तरात्मा में ज्यों की त्यों अबाध गति से बह रही है। मीरा ने अपने अनुभूत प्रेम और विरह वेदना को साहित्य में स्थान दिया। आज भारत के घर–घर में इनके पदों का आदर है। स्त्री–पुरुष सभी इन पदों को समान भाव से गाकर आज भी आनन्द–विभोर हो उठते हैं। मीरा की प्रमुख रचनाओं में नरसीजी का मायरा, रागगोविन्द, गीतगोविन्द की टीका आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। मीराबाई का प्रसिद्ध पद है–

"मन रे परस हरि के चरन,
सुभग सीतल कमल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरन।।"

मीराबाई के उपरान्त रीतिकाल में 'राय प्रवीण' ताज, शेख रंगरेजिन, गिरिधर कविराय की पत्नी सांई आदि ने अपनी पुनीत मधुर भावनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में पूर्ण योगदान दिया। 'राय प्रवीण' ने बादशाह अकबर को सम्बोधित कर कहा कि– विनती राय प्रवीण की, सुनिए साह सुजान, झूठी पातर भखत है, बायस–बारी–स्वान।

'ताज' की कविता में भगवान श्रीकृष्ण को अपना प्रियतम मानकर उनके चरणों में अपना तन, मन, धन समर्पित करने को उत्सुक हैं– सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी तुम, देव पूजा ठानी हौ निवाज हूँ भुलानी तजे। कलमा कुरान सारे गुन न गहूँगी मैं। नन्द के कुमार, कुरबान ताणी सूरत पै, हौ तो तुरकानी हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं।

प्रसिद्ध नीतिकार गिरिधर कविराय की पत्नी सांई ने लोकनीति के कई सारे पदों की रचना की। जैसे–

"साई, बैर न कीजिये, गुरु, पंडित, कवि, यार।
बेटा, वनिता, पंवरिया, यज्ञ–करावनहार।।"[4]

सांई के पश्चात् शेख रंगरेजिन का नाम आता है अपने पति आलम के साथ मिलकर 'आलमकेलि' नामक ग्रन्थ की रचना किया है–

आलम के द्वारा– **कनक छरी सी कामिनी, काहे को कटि छीन।**
शेख रंगरेजिन के द्वारा– **कटि को कंचन काटि कै, कुचन मध्य धरि दीन।**

आधुनिक काल में नव–जागृति और नव–चेतना का उदय हुआ। महिलाओं की शिक्षा–दीक्षा प्रारम्भ हुई। उनके हृदय में नवीन भावनाओं ने जन्म लिया। साहित्य की सभी विधाओं पर महिलाओं ने लेखनी चलाई। आधुनिक युग में बंग महिला (राजेन्द्र बाला घोष) ने 1907 ई0 में 'दुलाई वाली' कहानी लिखी। जिसे हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी होने का श्रेय दिया जाता है। यह 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। सुभद्रा कुमारी चौहान हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवयित्री और लेखिका थी। वे राष्ट्रीय चेतना की एक सजग कवयित्री रही हैं। स्वाधीनता संग्राम में अनेक बार जेल यातनाएं सहने के पश्चात अपनी अनुभूतियों को कहानी में भी व्यक्त किया। इनकी प्रमुख रचनाओं में बिखरे मोती, उन्मादिनी, सीधे–साधे चित्र (कहानी संग्रह) त्रिधारा, मुकुल, झांसी की रानी (कविता संग्रह) इनकी एक कविता (मेरा नया बचपन से)–

मैं बचपन को बुला रही थी बोल उठी बिटिया मेरी।
नंदन वन–सी फूल उठी यह छोटी–सी कुटिया मेरी।।
'माँ ओ' कहकर बुला रही थी मिट्ठी खाकर आयी थी।
कुछ मुँह में कुछ लिए हाथ में मुझे खिलाने लायी थी।।

इसके अनन्तर छायावादी युग की प्रमुख कवयित्री महादेवी वर्मा का नाम आता है। महादेवी जी के गीत अपनी सहज सहनशीलता, भावविविधता के कारण सजीव हैं। कवि निराला ने उन्हें 'हिन्दी के विशाल मंदिर की सरस्वती' भी कहा है। 1923 ई0 में उन्होंने महिलाओं की पत्रिका 'चांद' के सम्पादन का कार्यभार संभाला। नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, यामा शीर्षक से उनका काव्य संग्रह प्रकाशित हुआ है। इसके अलावा मेरा परिवार, स्मृति की रेखाएं, पथ के साथी, शृंखला की कड़ियाँ, अतीत के चलचित्र उनकी गद्य कृतियां हैं। उन्होंने भारत में महिला कवि सम्मेलनों की नींव रखी। इस प्रकार पहला अखिल भारतवर्षीय कवि सम्मेलन 15 अप्रैल 1933 ई0 को सुभद्रा कुमारी चौहान की अध्यक्षता में प्रयाग महिला विद्यापीठ में सम्पन्न हुआ। 'शृंखला की कड़ियाँ' पुस्तक में स्त्रियों की मुक्ति और विकास के लिए उन्होंने साहस व दृढ़ता से आवाज उठाई है और सामाजिक रुढ़ियों की निन्दा की है। उनके गीतों में अज्ञात सत्ता के प्रति वियोग की प्रधानता है–

मैं नीर भरी दुःख की बदली।
विस्तृत नभ का कोई कोना, मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल थी मिट आज चली।।

आधुनिक युग में महिला साहित्यकारों ने साहित्य की सभी विधाओं पर लिखना आरम्भ किया, कोई भी विधा जैसे कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना, नाटक, रेखाचित्र, संस्मरण, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज, गद्यकाव्य, जीवनी, आत्मकथा, एकांकी, डायरी, सब पर इन महिला साहित्यकारों ने लेखनी चलायी। इन महिला साहित्यकारों में तीसरा सप्तक की महिला कवयित्री कीर्ति चौधरी, चौथा सप्तक की सुमन राजे जिनकी प्रमुख रचनाओं में हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, साहित्येतिहासः संरचना और स्वरूप (आलोचना) इक्कीसवीं सदी का गीत (काव्य–संग्रह), दूसरे सप्तक की कवयित्री शकुन्तला माथुर ने लहर नहीं टूटेगी, चाँदनी चूनर अभी और कुछ (काव्य–संग्रह), उषा देवी मित्रा ने जीवन की मुस्कान, सोहनी (उपन्यास) रात की रानी, महावर, मेघ मल्हार (कहानी–संग्रह), सत्यवती मलिक ने दो फूल, वैशाख की रात (कहानी–संग्रह) इसके अतिरिक्त अमरपथ, अमिट रेखाएँ, मानव रत्न सरीखे बेजोड़ रेखाचित्र और संस्मरण तथा कश्मीर की सैर जैसे अप्रतिम यात्रावृत्त बहुचर्चित हुए हैं। चंद्रकिरण सौनरेक्सा की प्रमुख कृतियों में आदमखोर, जवान मिट्टी (कहानी–संग्रह) पिंजड़े की मैना (आत्मकथा), सुमित्रा कुमारी सिन्हा ने विहाग, आशापर्व, बोलों के देवता (कविता–संग्रह) अचल सुहाग, वर्षगाँठ (कहानी–संग्रह), होमवती देवी की प्रसिद्ध कहानी 'गोटे की टोपी' पर 'सिंदूर' नाम से एक फिल्म भी बनी थी। उनकी प्रमुख रचनाओं में स्वप्नभंग, अपना घर, निसर्ग (कहानी–संग्रह) अर्घ, उद्धार, अंजलि के फूल (काव्य–संग्रह), गगन गिल नब्बे के दशक की स्त्री स्वर की कविताओं में वह नये मुहावरे के साथ आई। वह स्त्री के दुखों और उदासियों को रचने वाली कवयित्री हैं। उनकी कविताओं में भारतीय परंपराओं की रेख भी मौजूद है। एक दिन लौटेगी लड़की, अँधेरे में बुद्ध, यह आकांक्षा समय नहीं (काव्य–संग्रह) दिल्ली में उनींदे (गद्य–संग्रह) अवाक (यात्रा वृतांत), उषा प्रियंवदा की

गणना उन कथाकारों में होती है, जिन्होंने आधुनिक जीवन की ऊब, छटपटाहट, संत्रास और अकेलेपन की स्थिति को पहचाना और अपनी रचनाओं में व्यक्त किया। उनकी कृतियों में 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' एक कोई दूसरा (कहानी–संग्रह) पचपन खम्भे लाल दीवारें, रुकोगी नहीं राधिका, शेष यात्रा, अंतर्वशी (उपन्यास), मन्नू भण्डारी ने कहानी और उपन्यास दोनों विधाओं में कलम चलाई है। उनका आपका बंटी (उपन्यास) में तलाक और पुनर्विवाह की विषम परिस्थितियों में बंटी (बालक) की मानसिकता, अकेलेपन, बिखराव एवं उसकी समस्या का चित्रण है, तो महाभोज (उपन्यास) में राजनीतिक जीवन के भ्रष्टाचार तल्ख सच्चाईयों का पर्दाफाश किया है। इनकी कहानी 'यही सच है' पर आधारित 'रजनीगंधा' फिल्म ने बॉक्स ऑफिस पर खूब धूम मचाई थी। इनकी प्रमुख रचनाओं में एक प्लेट सैलाब, मैं हार गई, तीन निगाहों की एक तस्वीर, यही सच है, त्रिशंकु, आँखों देखा झूठ, नायक खलनायक विदूषक (कहानी–संग्रह), आपका बंटी, महाभोज, स्वामी, कलवा (उपन्यास), बिना दीवारों का घर (नाटक), एक कहानी यह भी (आत्मकथा) अनामिका की प्रमुख रचनाओं में दूब–धान, कविता में औरत, बीजाक्षर, गलत पते की चिट्ठी (कविता–संग्रह) प्रतिनायक (कहानी संग्रह) दस द्वार का पिंजरा, अवांतर कथा, तिनका तिनके पास (उपन्यास), सुमित्रा कुमारी सिन्हा प्रसिद्ध कवयित्री कीर्ति चौधरी की माँ है तथा स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय योगदान दिया। उनकी कृतियों में विहाग, बोलों के देवता (कविता–संकलन) अचल सुहाग, वर्षगाठ (कहानी–संग्रह), प्रसिद्ध लेखिका शिवानी अपनी कृतियों में उत्तर भारत के कुमाऊं क्षेत्र के आसपास की लोक–संस्कृति की झलक दिखलाने और किरदारों के बेमिसाल चरित्र चित्रण करने के लिए जानी जाती हैं। उनकी कृतियों में कृष्णकली, विषकन्या, कालिन्दी, कैंजा, श्मशान चम्पा (उपन्यास), लाल हवेली, स्वयं सिद्ध, रति विलाप (कहानी–संग्रह) जालक वातायन, स्मृति कलश (संस्मरण), चरैवैति, यात्रिक (यात्रा वृतांत), सुनहुँ तात यह अमर कहानी (आत्मकथा), शशिप्रभा शास्त्री ने अमलतास, नावें, कर्क रेखा, उम्र एक गलियारे की (उपन्यास), कृष्णा अग्निहोत्री ने टीन के घेरे, जिन्दा आदमी, अपने–अपने कुरुक्षेत्र (कहानी–संग्रह) टपरेवाले, निष्कृति (उपन्यास), भीगे मन रीते तन (रिपोर्ताज) लगता नहीं है दिल मेरा (आत्मकथा), कश्मीर की आवोहवा में पली बढ़ी चंद्रकांता की रचनाओं में कश्मीरियत और कश्मीरी होने के दर्द, दोनों की झलक स्पष्ट रूप से मिलती है। इनकी कृतियों में ऐलान गली जिन्दा है, अपने अपने कोणार्क, कथा सतीसर (उपन्यास), हाशिए की इबारतें (संस्मरण), ममता कालिया ने अपने लेखन में रोजमर्रा के संघर्ष में युद्धरत स्त्री का व्यक्तित्व उभारा। अपनी रचनाओं में वह न केवल महिलाओं से जुड़े सवाल उठाती है, बल्कि उन्होंने उनके उत्तर देने की भी कोशिश की है। उनकी कृतियों में खांटी घरेलू महिलाएं, कितने प्रश्न करूँ (कविता–संग्रह), बेघर, नरक दर नरक, एक पत्नी के नोट्स, दौड़, दुक्खम्–सुक्खम (उपन्यास), छुटकारा, एक अद्द औरत, मुखौटा, जाँच अभी जारी है (कहानी–संग्रह), यहाँ रहना मना है, आप न बदलेंगे (नाटक–संग्रह), कितनी शहरों में कितनी बार (संस्मरण), चित्रा मुद्गल आधुनिक हिन्दी कथा–साहित्य की बहुचर्चित और सम्मानित लेखिका हैं। उनके लेखन में जहाँ एक ओर मानवीय संवेदनाओं का चित्रण होता है, वहीं दूसरी ओर नये जमाने की रफ्तार में फँसी जिंदगी की मजबूरियों का चित्रण है। उनकी प्रमुख कृतियों में एक जमीन अपनी, गिलिगडु, आवां, पोस्ट बाक्स नं0 203 नाला सोपारा, नकटौरा (उपन्यास), जगदम्बा बाबू गांव आ रहे हैं, लाक्षागृह, इस हमाम में, केंचुल (कहानी–संग्रह), तहखानों में बंद अक्स (कथात्मक रिपोर्ताज), बयार उनकी मुट्ठी में (लेख), सुधा अरोड़ा की कहानियाँ लगभग सभी भारतीय भाषा के अलावा कई विदेशी भाषाओं में अनुवादित हैं। उन्होंने भारतीय महिलाओं, कलाकारों के आत्मकथ्यों के दो संकलन 'दहलीज को लांघते हुए तथा पंखों की उड़ान तैयार किया है। उनकी प्रमुख कृतियों में बगैर तराशे हुए, युद्ध विराम, महानगर की मैथिली (कहानी–संग्रह) यहीं कहीं था घर (उपन्यास), कम से कम एक दरवाजा, रचेंगे हम साझा इतिहास (कविता–संकलन), मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी लेखनी में ग्रामीण भारत को साकार किया है। उनके लेखन में ब्रज और बुंदेली दोनों संस्कृतियों की झलक दिखाई देती है। उनकी प्रमुख रचनाओं में चाक, अल्मा कबूतरी, इदन्नमम, झूला नट, कहीं ईसुरी फाग (उपन्यास), चिन्हार त्रिया हठ, ललमनियाँ तथा अन्य कहानियां (कहानी–संग्रह), लकीरें (कविता–संग्रह) अगनपाखी (यात्रा–संस्मरण), खुली खिड़कियां (लेख–संग्रह) कस्तूरी कुण्डल बसै, गुड़िया भीतर गुड़िया (आत्मकथा), प्रभा खेतान के साहित्य में स्त्री यंत्रणा को आसानी से देखा जा सकता है। बंगाली स्त्रियों के बहाने इन्होंने स्त्री जीवन में काफी बारीकी से झांकने का बखूबी प्रयास किया है। इनकी प्रमुख कृतियां

अपरिचित उजाले, सीढ़ियां चढ़ती मैं, एक और आकाश की खोज में, अहिल्या (कविता संकलन), तालाबंदी, छिन्नमस्ता, पीली आंधी (उपन्यास), शब्दों का मसीहा सार्त्र, बाजार के बीच : बाजार के खिलाफ (लघु उपन्यास), अन्या से अनन्या (आत्मकथा), दि सेकेंड सेक्स का स्त्री उपेक्षिता नाम से अनुवाद। इसके अतिरिक्त महिला लेखिकाओं की फेहरिस्त काफी लम्बी है। जिन्होंने अपने लेखन से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है। इनमें सूर्यबाला, मेहरुन्निसा परवेज, कुसुम चतुर्वेदी, नमिता सिंह, उषा किरण खान, गीतांजलि श्री, नासिरा शर्मा, अलका सरावगी, मधु कांकरिया, उर्मिला शिरीष, जया जादवानी, कात्यायनी, लवलीन, मृदुला गर्ग, निर्मला जैन, नीरजा माधव, निरुपमा सोवती, कुसुम अंसल, पद्मा सचदेव, रमणिका गुप्ता, क्षमा शर्मा, रोहिणी अग्रवाल, लता शर्मा, विभा रानी, रजतरानी मीनू, सुशीला टाकभौरें, कुसुम मेघवाल, कौशल्या बैसंत्री, रजनी तिलक, दिनेश नंदिनी डालमिया, दीप्ति खण्डेलवाल, मंजुल भगत, कांता भारती, महुँआ मांजी, गीता श्री, अल्पना मिश्र, मनीषा कुलश्रेष्ठ इत्यादि हैं।

अन्ततः कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में महिला साहित्यकारों की उतरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। आशा है कि निकट भविष्य में हिन्दी साहित्य को इनकी नवीन साहित्यिक कृतियां और भी समृद्धिशाली बनायेंगी।

सन्दर्भ–सूची :–

1. साहित्यिक निबन्ध : डॉ0 गणपति चन्द्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, दशम् संस्करण : 1989, पृ0–06।
2. सहज प्रकाश : सहजो बाई, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, संस्करण 1922, पृ0–109।
3. दयाबोध : दयाबाई, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।
4. गिरिधर की सुबोध कुंडलिया : वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2016, पृ0–32।
5. हिन्दी का गद्य–साहित्य : डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, तेरहवाँ संस्करण–2020।
6. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की रूपरेखा : डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, तृतीय संस्करण–2010।

★

हमारे वर्तमान का भूत और भविष्य से सम्बन्ध
(कर्म-सिद्धान्त के विशेष संदर्भ में)

डॉ. ऋषिका वर्मा*

प्रायः सभी हिन्दू नैतिक चिन्तक या चिन्तन परम्परा कर्म–सिद्धान्त में अटूट विश्वास करते है, जिसके अनुसार व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसके अनुरूप उसे परिणाम अवश्य मिलता है। वर्तमान जीवन अतीत कर्मों का परिणाम है तथा वर्तमान कार्यों के आधार पर भविष्यत् जीवन का निर्धारण होता है। जीवन के क्षेत्र में सामान्यतया यह विश्वास किया जाता है कि व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार उत्तम, मध्यम, एवं निम्न गति प्राप्त करता है। यह सिद्धान्त स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता होता है। मनुष्य जानता है कि कर्म में प्रवृत्त करानेवाली जो कुछ प्रवृत्तियाँ उसके अन्दर अब विद्यमान है उसके अपने जान–बूझकर किए गए चुनाव का परिणाम है। ज्ञानपूर्वक किए गए कर्म आगे चलकर अनजाने स्वभाव बन जाते है, और आज जो हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ है वे भी पूर्व में ज्ञानपूर्वक किए गए अपने कर्मों का परिणाम है। छान्दोग्य उपनिषद् में यह स्पष्ट कहा गया है कि सुन्दर चरित्र वाले व्यक्ति अच्छी योनि यथा– ब्राह्मण, वैश्य आदि को प्राप्त करते है जबकि बुरे कर्म वाले व्यक्ति निम्न योनियों में जन्म लेते है।[1]

कर्म शब्द **'कृ'** धातु से बना है, इसका सामान्य अर्थ है करना। कर्म का साधारण अर्थ क्रिया होता है। अतः कर्म का अर्थ मनुष्य द्वारा किये जाने वाले कार्यों के प्रति है। यदि गम्भीरता से देखे तो मनुष्य अपने जीवन–काल में जो कुछ भी करता है, जैसे–चलना, बोलना, खना, पीना, सोना, उठना, बैठना, अध्ययन करना, इच्छा करना, निश्चय करना इत्यादि ये समस्त कर्म के ही अन्तर्गत आते है।[2] दर्शन में इसका अर्थ उस परिणाम से लिया जाता है जिसके कारण हमारे पूर्वकर्म है। कर्म–सिद्धान्त का अर्थ है– 'जैसा हम बोते है वैसा ही हम काटते है।' इस नियम के अनुकूल शुभ कर्मों का फल शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है। कर्म के स्वरूप पर भगवद्गीता तथा मनुस्मृति में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। भगवद्गीता में कर्म के द्वारा चारों वर्णों, आश्रमों आदि के कर्तव्यों का निर्देश दिया गया है[3] कि प्रत्येक व्यक्ति के कर्म पर उसका वर्ण आधारित है और उसके अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करना ही उचित है।

कर्मविषयक अवधारणाओं का सूत्रपात ऋग्वेद के काल से ही प्रारम्भ हो गया था।[4] ऋग्वेद में **'ऋत्'** की कल्पना को कर्म के मूल बीज के रूप में जाना जा सकता है। **'ऋत्'** इस जगत् में पायी जाने वाली नैतिक व्यवस्था का नाम है। जगत् में सबसे पहले ऋत् ही उत्पन्न हुआ। सत्य की उत्पत्ति उसके बाद हुई।[5] कर्म–सिद्धान्त का ज्ञान वैदिक–काल के विचारकों को आज से लगभग 3000 वर्ष पूर्व हो चुका था, किन्तु कतिपय विद्वानों की धारणा है कि संहिताओं में कर्म–सिद्धान्त का स्थान नहीं है। संभव है कि कर्म–सिद्धान्त का उल्लेख हमें वैदिक संहिताओं में न मिले, परन्तु वेदों में निर्दिष्ट यज्ञादि का फल से सम्बंधित होना, मनुष्य का मरणोपरान्त देवयान एवं पितृयान से होकर ब्रह्मलोक और चन्द्रलोक को जाना आदि कर्म–सिद्धान्त की पृष्ठभूमि समझे जा सकते है।[6] इसके अतिरिक्त पूर्वार्जित दृष्ट कर्मों के उपभोग के लिए वृक्ष लतादि स्थावर शरीरों में प्रवीष्ट होने का वर्णन मिलता है, जिससे प्रमाणित होता है कि वैदिक ऋषियों को कर्म–सिद्धान्त भली–भाँति मान्य था।

चार्वाक को छोड़कर भारत के सभी दर्शन चाहे वह वेद–विरोधी हो अथवा वेदानुकूल हो, कर्म के नियम को मान्यता प्रदान करते है। इस प्रकार कर्म–सिद्धान्त को छः आस्तिक दर्शनों एवं दो नास्तिक दर्शनों ने अंगीकार किया है। जैन दर्शन में भी कर्म–सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। साधक के आत्म–विकास में जिस शक्ति के कारण बाधा उपस्थित होती है, उसे जैन दर्शन में कर्म कहते है। जैन सिद्धान्त प्रत्येक प्राणी को भाग्य विधाता मानता है। सभी प्राणी अपने कर्मों के उत्तराधिकारी है। कर्म आठ प्रकार के है– ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु नाम, गोत्र और अन्तराय। इन्हीं कर्मों के अनुसार जीव

***सहायक प्रध्यापक : दर्शनशास्त्र विभाग, हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय, उत्तराखण्ड–266174।**

योनियों में जाते है, अर्थात्, अपना कर्म ही बन्ध है, आश्रव है और वह जीव का उच्च और नीच रूप में विभाग करता है। स्वामी अकलंक देव का कथन है– 'जिस प्रकार पात्र–विशेष में रखे गये अनेक रसवाले बीज, पुष्प, तथा फलों का मद्य रूप में परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्गलों का क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों तथा मन, वचन, काय के निमित्त से आत्म–प्रदेशों के परिस्पन्दन रूप योग के कारण कर्म रूप परिणमन होता है।' कहा जा सकता है कि जीव और पुद्गल अपने–अपने गुणों से च्युत होकर एक नवीन अवस्था का निर्माण करते हैं। राग–द्वेष युक्त आत्मा पुद्गल पुंज को अपनी ओर आकर्षित करता है। जैस चुम्बक लोहा आदि पदार्थों को आकर्षित करता है। राग–द्वेष के माध्यम से पुद्गल पुंज आत्मा में एक विशेष विकृति उत्पन्न कर देते है, जो फिर रागादि भावों को उत्पन्न करता है। जिससे जीव बन्धन में पड़ता है।

बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पादवाद से कर्मवाद की ही स्थापना होती है, क्योंकि कर्म के द्वारा ही मनुष्य का वर्तमान जीवन उसकी पूर्ववर्ती अवस्था का परिणाम समझा जा सकता है। वर्तमान जीवन पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का ही फल है। साथ ही वर्तमान जीवन के कारण भविष्य जीवन की उत्पत्ति होती है। कर्म–सिद्धान्त के अनुसार भी वर्तमान के कर्मों का फल भविष्य में मिलता है।[7]

न्याय–वैशेषिक दर्शन में कर्म–सिद्धान्त को **'अदृष्ट'** कहा गया है। क्योंकि यह दृष्टिगोचर नहीं होता है। विश्व की समस्त वस्तुएँ यहाँ तक की परमाणु भी, इस नियम से प्रभावित होते है। न्याय–वैशेषिक दर्शन में **'अदृष्ट'** का संचालन ईश्वर के अधीन है। **'अदृष्ट'** अचेतन होने के फलस्वरूप स्वयं फलवान नहीं होता। ईश्वर ही **'अदृष्ट'** के द्वारा मनुष्य को उसके शुभ–अशुभ कर्मों का फल प्रदान करता है।

मीमांसा दर्शन में कर्म–सिद्धान्त को **'अपूर्व'** कहा गया है। मीमांसा मानती है कि कर्म–सिद्धान्त स्वचालित है, इसे संचालित करने के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। वास्तव में जो यज्ञ आज सम्पन्न होता है, उसका फल सद्यः नहीं मिलता है। फिर यदि उस यज्ञ से सद्यः कोई परिणाम नहीं निकलता तो भविष्य में उसका फल कैसे मिल सकता है? अतः कर्म और उसके फल के बीच की तात्त्विक कड़ी के रूप में किसी तत्त्व को मानना पड़ता है, यह तत्त्व **'अपूर्व'** है। अपूर्व की परिभाषा मीमांसा में इस प्रकार दी गयी है:– **अपूर्वो यागादिजन्यः स्वर्गादिजनकः कश्चन गुणविशेषः।**[8] अर्थात् अपूर्व यागादि से उत्पन्न होता है, स्वर्गादि को उत्पन्न करता है तथा एक विशेष गुण है। **'अपूर्व'** के अस्तित्व को अर्थापत्ति से जाना जाता है। यदि अपूर्व ना होता तो कर्म का फल ना मिलता। कुमारिल भट्ट के अनुसार अपूर्व कर्ता की एक योग्यता है, किन्तु प्रभाकर कहते है कि अपूर्व कर्म में स्थित एक तत्त्व है।

वेदान्त दर्शन में कहा गया है कि विश्व में नाना प्रकार की विषमता यह दर्शाती है कि इसका कारण सबके कर्म है।[9] इस विषय में शंकराचार्य कहते है कि जगत् में किसी–किसी को अत्यन्त दुःखभोगी, किसी को अत्यन्त सुखभोगी और किसी–किसी को मध्यम अवस्था में देखा जाता है। इससे ईश्वर की करूणा का अभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि भगवान किसी वस्तु की अपेक्षा करके सृष्टि के कार्य में प्रवृत्त नहीं होते है। वे तो जीव के संचित कर्म अथवा भाग्य को ध्यान में रखकर ही विषम सृष्टि करते है। अतएव जीवगत कर्म का तारतम्य ही वैषम्य सृष्टि का वास्तविक कारण है। ईश्वर निमित्त मात्र है। जगत् में दिख पड़ने वाली विषमता का समाधान कर्म–सिद्धान्त की सहायता से किया जा सकता है। जिस प्रकार अंकुर से बीज और बीज से अकुंर होता है, उसी प्रकार कर्म से सृष्टि और सृष्टि से कर्म है।[10]

पतंजलि ने भी योगसूत्र में यही बात कहीं है कि हमारे अन्दर वासनाओं का आदि नहीं है। ये कर्म के विपाक अनादि काल से है। उनका आरम्भन नहीं माना जा सकता है। ये कर्म की वासनाऐं जन्म–जन्मान्तर साथ रहती है। व्यक्ति को उसके शुभ–अशुभ कर्मों के अनुसार विभिन्न प्रकार का जीवन प्राप्त होता है। कर्म अपने फलों को भोगे बिना नष्ट नहीं होते है। चाहे सैकड़ों कल्प क्यों न व्यतीत हो जाऐं। **(मा मुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि।)** इन कर्मों के भोगने के विषय में महाभारत में युक्ति दी गई है है जिस प्रकार हजारों गायों के बीच बछड़ा अपनी मां को ढूंढ लेता है, उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म अपने कर्ता का अनुसरण करता है।[11]

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि कर्म–चक्र से कभी कोई भाग नहीं सकता है। इस जीवनयात्रा का प्रधान आधार कर्म ही है। एक क्षण के लिए भी कोई आदमी बिना कर्म किए नहीं रह सकता। इसलिए गीता निष्काम कर्म को जीवन का आदर्श बनाने का निर्देश देती है। कर्म को बिना किसी परिणाम की आकांक्षा से करना ही निष्काम कर्म है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है– 'कर्म में ही तेरा अधिकार है, फल में कभी नहीं, तुम कर्म–फल का हेतु भी मत बन। अकर्मण्यता में तुम्हारी आसक्ति न हो।[12] उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि लगभग सभी सम्प्रदायों ने कर्म–सिद्धान्त पर विचार किया है। कर्म–सिद्धान्त का स्वरूप क्या है? इस विषय में कर्म–सिद्धान्त की दो व्याख्याऐं दी जाती हैं:–

1. **भौतिक व्याख्या**
2. **नैतिक व्याख्या**

कर्म–सिद्धान्त की भौतिक व्याख्या के अनुसार कर्म एक भौतिक शक्ति है, जिसके संचालन का कुछ परिणाम निकलता है। हम शारीरिक या मानसिक रूप से कुछ कर्म करते है और उसका कुछ परिणाम या फल निकलता है। इसके दो आवश्यक और अपरिहार्य नियम है– **'कृतप्रणाश'** और **'अकृताभ्युपगम'**। कृतप्रणाश का तात्पर्य है कि किए गए कर्म के फल का कभी नाश नहीं होता है अर्थात् कर्म निष्फल नहीं होता। यदि कर्म हो चुका है तो उसका परिणाम या फल अवश्य मिलेगा। अकृताभ्युपगम का तात्पर्य यह है कि बिना किये गये कर्म का फल नहीं मिल सकता। जिस प्रकार बीज के बीना वृक्ष नहीं होता, उसी प्रकार कर्म के बीना फल नहीं होता, अर्थात् कर्म असफल नहीं हो सकता। संक्षेप में कर्म अवश्य फल देगा।

नैतिक दृष्टि से कर्म नियति का नियामक है। कर्म से भाग्य का विधान होता है। हम कर्म करते है और हमें उसका फल मिलता है। इससे कर्म की पूरी शक्ति समाप्त नहीं हो जाती। इस शक्ति का कुछ अंश संस्कार बन जाता है, जो भाग्य ओर भविष्य का निर्णायक होता है। इसी के अधीन शुभ–अशुभ, पाप–पुण्य का विधान होता है। जिसने इस जन्म में अच्छे कर्म किये है, उसे भविष्य में या अगले जन्म में सुख अवश्य मिलेगा, क्योंकि संस्कार रूप में कर्म सुख का निर्णय करेगा। इस नियम के आधार पर ही हमारी वर्तमान की सभी उपलब्धियों का आधार कर्म ही है। कर्म संस्कार बनकर आगामी उपलब्धियों के कारण भी माने जाते है। इससे स्पष्ट है कि भाग्य कर्म की ही देन है, और भविष्य वर्तमान का परिणाम है। धर्मशास्त्रों में कर्मों के वर्गीकरण के लिए विभिन्न प्रसंगों को आधार मानकर कर्म के अनेकानेक वर्गीकरण या भेद प्रस्तुत किये गये हैं।[13] सांसारिक कर्मों का वर्गीकरण वेदान्त दर्शन की धारा में तीन प्रकार से किया गया है– **संचित कर्म, क्रियमाण कर्म और प्रारब्ध कर्म।** जन्म–जन्मान्तर से जो कर्म इकट्ठा रहते है और मनुष्य वर्तमान जीवन में जो कर्म करता है, उसे संचित कर्म कहते है। जिसके कारण शरीर का आरम्भ होता है तथा जो शरीर द्वारा भोगा जाता है उसे प्रारब्ध कर्म कहते है। अर्थात् जिसका फल वर्तमान काल में मनुष्य द्वारा भोगा जाता है या समस्त जीवों के द्वारा इस प्राप्त शरीर द्वारा भोगा जाता है, उसे प्रारब्ध कर्म कहा गया है। क्रियमाण कर्म वह है, जो वर्तमान जीवन में किया जाता है, चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ, उसे क्रियमाण कर्म कहते है।[14]

मीमांसा दर्शन में वेद प्रतिपादित कर्म के चार प्रकार बताए गए हैः– **नित्य, नैमित्तिक, प्रतिसिद्ध और काम्य कर्म।** संध्या, वन्दना आदि नित्य कर्म है। किसी अवसर विशेष पर किए गए श्राद्ध आदि कर्म नैमित्तिक कर्म है। वेद के द्वारा वर्जित कर्म जैसे **'कलंजन भक्षयेत'** अर्थात् विषदग्ध शस्त्र से मरे हुए पशु–मांस का भक्षण नहीं करना चाहिए और किसी इच्छा विशेष से किया गया कर्म जैसे– **'स्वर्ग कामो जयेत'** अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाले को यज्ञ का सम्पादन करना चाहिए। इन कर्मों की अपनी कुछ विशेषताऐं है, जैसे– नित्य–नैमित्तिक कर्म को अवश्य करना चाहिए, इसके न करने से पाप होता है, परन्तु करने से पुण्य नहीं होता। प्रतिसिद्ध कर्म कभी नहीं करना चाहिए, इसके करने से पाप होता है, परन्तु न करने से पुण्य नहीं होता। काम्य कर्म को करे या न करे, इनके करने से पुण्य अवश्य होगा, परन्तु न करने से पाप नहीं होता है। कर्म–सिद्धान्त का विश्लेषण करने पर इसकी कुछ मान्यताओं को प्रकाशित किया जा सकता हैं। जो निम्नवत् हैं:–

1. प्रत्येक कर्म का कोई ना कोई फल अवश्य होता है। ऐसा संभव नहीं है कि किसी कार्य का फल न हो। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि यदि कोई फल हमारे सामने है तो ऐसा नहीं मानना

चाहिए कि बिना किसी कर्म के ही फल उपलब्ध हो गया है। इसी आधार पर कर्मफल या कर्मफल कारण भाव तथा कारण–कार्य भाव के सिद्धान्त निरूपित होता है।

2. यदि किसी ने कोई कर्म किया है तो उसका फल वर्तमान अथवा भविष्य किसी भी काल में मिल सकता है। ऐसा नहीं मानना चाहिए कि यदि किए गए कर्म का फल वर्तमान जीवन में नहीं मिला तो वह लोप हो गया।
3. आत्मा अपने पूर्व कर्मों के फल को भोगता हुआ नवीन कर्मों का बन्ध करता हुआ एक भाव से दूसरे भाव में विचरता रहता है। यह कर्म–सिद्धान्त की मर्यादा है जिसे भंग करना जीवन के लिए मुश्किल है।
4. व्यवहार तथा सुख–दुःख में देखी जाने वाली असमानता कर्म के कारण ही उत्पन्न होती है।
5. कर्म–बन्ध तथा कर्म–भोग का अधिकारी जीव स्वयं होता है। अन्य कारण कर्म–बन्ध अथवा कर्म–भोग के सहयोगी होते है।[15]

कर्म–फल प्राप्त करने में हो सकता है देर हो, किन्तु वह समाप्त नहीं होता। वह संचित होता रहता है, जिसे भाग्य या दुर्भाग्य के नाम से हम जानते है। पूर्वजन्म में किए गए कर्मों के फल व्यक्ति वर्तमान जन्म तथा वर्तमान में किए गए कर्मों के फल भविष्य में भोगना पड़ता है। कर्म के फलस्वरूप ही जीव नाना प्रकार के शरीर धारण करता है और उसके अनुसार सुख–दुःख भोगता है। मनुष्य जब इस जीवन में रहता है तब कर्म करना उसका स्वभाव होता है। किसी कर्म को किये बिना वह रह नहीं सकता। मनुष्य के शरीर ग्रहण करने का अर्थ ही है– उसका क्रियाशील होना अर्थात् किसी न किसी प्रकार के कर्म को करते रहना। क्रियाशीलता के अभाव का अर्थ है, मानव शरीर का विनष्ट होना। कर्म करना प्राणियों का प्राकृतिक गुण है। इस प्रकार अनैच्छिक रूप से भी प्राकृतिक गुण के प्रयोजन से सभी प्राणियों को क्रियाशील होकर कर्म करना पड़ता है। कर्म मनुष्य के लिए अनिवार्य है। किन्तु कर्म में एक दुर्गुण का निवास है, जो कर्ता को बन्धन में डालने के लिए तैयार रहता है। इसका नाम है **वासना, फलाकांक्षा या आसक्ति।** जिस कामना या इच्छा से कर्म किया जाता है, उस फल को तो भोगना ही पड़ेगा, उससे किसी प्रकार कर्ता को छुटकारा नहीं मिल सकता। परन्तु फल के बन्धन से मुक्ति पायी जा सकती है। कार्य का इस प्रकार कुशलता से सम्पादन करना कि वे बन्धन न उत्पन्न करे **'योग'** कहलाता है। गीता में कहा भी गया है **योगः कर्मसु कौशलम्।** कर्मसन्यास से बढ़कर कर्मयोग है। परन्तु साधारण कर्म को कर्म को कर्मयोग में प्रवृत्त करने के लिए तीन सोपानों की आवश्यकता है– **आकांक्षा का वर्जन, कर्तृत्व के अभिमान का परित्याग और ईश्वरार्पण।**

समस्त कर्म पाँच क्लेशों द्वारा जनित होते हैं। ये पंच क्लेश है– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ये पाँचों क्लेश हमारी बुद्धि पर छा जाते है और वही कर्म के कारण बनते हैं। अर्थात् वे ही हमें कर्म करने हेतु प्रेरित एवं बाध्य करते है। जिससे हमें दुःख भोगना पड़ता है। इस प्रकार बीज और वृक्ष की भाँति क्लेश औ कर्म का सम्बंध चलता रहता है। कहने का तात्पर्य है कि सर्वप्रथम कर्म क्लेश से उत्पन्न होता है, जो स्वयं आगे चलकर क्लेशों को उद्भूत करता है और पुनः क्लेश, कर्म से। इस प्रकार यह प्रक्रिया चलती रहती हैं।[16]

कर्म–सिद्धान्त के आधार पर ही विभिन्न व्यक्तियों के बीच असमानता की व्याख्या हो पाती है। कर्म–सिद्धान्त ही व्यक्ति हो अशुभ कर्मों से मोड़कर शुभ कर्मों की ओर ले जाता है। कर्म–सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायीं है। कर्म–सिद्धान्त में आस्था रखने वाले सभी दार्शनिकों ने माना है कि हमारा वर्तमान जीवन अतीत जीवन के कर्मों का फल है तथा भविष्य जीवन, वर्तमान जीवन के कर्मों का फल होगा। इस प्रकार अतीत, वर्तमान और भविष्य जीवनों को कारण–कार्य श्रृंखला में बाधा गया है। यदि हम दुःखी है तो इसका कारण हमारे पूर्वजन्म के कर्मों का फल है। यदि हम दूसरे जीवन को सुखमय बनाना चाहते है तो हमारे लिए अपने वर्तमान जीवन में उसके लिए प्रयत्नशील रहना परमावश्यक है।

कर्म–सिद्धान्त के विरूद्ध अनेक आक्षेप भी उपस्थित किए गए है। सर्वप्रथम कर्म–सिद्धान्त के विरूद्ध कहा जाता है कि यह ईश्वरवाद का खण्डन करता है। ईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर विश्व का सृष्टा है।

ईश्वर ने मानव को सुखी एवं दुःखी बनाया है। परन्तु कर्म–सिद्धान्त मनुष्य के सुख और दुःख का कारण स्वयं मनुष्य को बतलाकर ईश्वरवादी विचारधारा का विरोध करता है। कर्म–सिद्धान्त ईश्वर के गुणों का भी खण्डन करता है। ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, दयालु इत्यादि कहा जाता है। परन्तु कर्म–सिद्धान्त के लागू होने के कारण ईश्वर चाहने पर भी एक मनुष्य को उसके कर्मों के फल से वंचित नहीं कर सकता। मनुष्य जो भी अशुभ कर्म करता है, किसी प्रकार भी ईश्वर की दया से लाभान्वित नहीं हो सकता। इस प्रकार ईश्वर की पूर्णता का यह सिद्धान्त विरोध करता है। कर्म–सिद्धान्त के विरूद्ध दूसरा आक्षेप यह दिया जाता है कि यह सिद्धान्त सामाजिक–सेवा में शिथिलता उत्पन्न करता है। किसी असहाय या पीड़ित की सेवा बेकार है, क्योंकि वह तो अपने पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का फल भोग रहा है। कभी–कभी यह युक्ति दी जाती है कि कर्म–सिद्धान्त आस्तिकवाद के साथ मेल नहीं खाता है। कर्म एक विवकेशून्य एवं अचेतन तत्त्व है, जो समस्त संसार पर अधिकार जमाए हुए है।

इन आक्षेपों के उत्तर में कहा जा सकता है कि ईश्वर के सत्ता के साथ कर्म–सिद्धान्त की कोई असंगति नहीं है। कर्म का नैतिक सिद्धान्त ईश्वर के रूप की अभिव्यक्ति है। मानवीकरण की दृष्टि से हम कह सकते है कि एक देवीय शक्ति सारी प्रक्रिया का नियन्त्रण एवं संचालन करती है। वेदों में इस नियम को ऋत् कहा गया है। वस्तुतः उपनिषदों का मत है कि हमें समाजसेवा द्वारा ही कर्मों से मुक्ति मिल सकती है। जब तक हम स्वार्थ को लेकर काम करते है, हम कर्मबंधन के नियम के अधीन रहते है। जब हम निष्काम भाव से कर्म करते है तो मोक्ष को प्राप्त करते है। एक ऐसे युग में जबकि मनुष्य अपनी जिम्मेदारी से बचने के लिए सारा भार विधाता पर अथवा ग्रह–नक्षत्रों पर या किसी अन्य सत्ता के ऊपर छोड़कर सन्तोष कर लेना चाहता हो, कर्म–सिद्धान्त ने बलपूर्वक कहा है कि 'मनुष्य अपने आप ही अपने को बंधन में डालता है। जैसे एक पक्षी स्वयं ही अपने लिए घोंसला बनाता है।[17] जो कुछ हमें डरावना प्रतीत होता है वह अन्धकारपूर्ण भाग्य नहीं है, वरन् हमारे अपने ही पूर्वकृत कर्म है।

इस प्रकार हम पाते है कि कर्म–सिद्धान्त से बढ़कर कोई दूसरा सिद्धान्त जीवन एवं आचरण में इतना अधिक महत्व नहीं रखता। इस जीवन में हमें जो कुछ भी प्राप्त होता है, हमें बिना किसी क्षोभ के स्वीकार करना चाहिए कि यह हमारे पिछले कर्मों का फल है। किन्तु भविष्य फिर भी हमारे अपने वश में है और इसलिए हम आशा एवं विश्वास के साथ कर्म कर सकते है। कर्म–सिद्धान्त भविष्य के प्रति आशा का संचार करता है एवं भूतकाल को भूल जाने को कहता है। इससे मनुष्य जाति को यह अनुभव होता है कि संसार के पदार्थों, सफलताओं एवं असफलताओं से आत्मा के गौरव पर कोई अवांछनीय प्रभाव नहीं पड़ सकता। केवल पुण्य कर्म ही श्रेय है न कि पद और धन–दौलत, जाति अथवा राष्ट्रीयता।

सन्दर्भ–सूची :–

1. छान्दोग्य उपनिषद् 5।10।7।
2. तिलक बालगंगाधर, गीता रहस्य, कर्मयोग शास्त्र प्रकरण पृष्ठ,55।
3. चातुर्वण्य मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः। भगवद्गीता, 4।13।
4. ऋग्वेद 1।164।29।
5. ऋतं च सत्यं चाभीदात्त ध्यजायत्। ऋग्वेद। फलस्य वा पूर्वास्था पूर्व नामास्तीति तवर्यते। शांकरभाष्य गीता 3।2।40।
6. पाण्डेय संगमलाल, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृष्ठ सं0 4।
7. देवी सिंह डॉ. ज्ञान्ती, गौड़पाद दर्शन–एक आलोचनात्मक अध्ययन पृष्ठ सं0 78।
8. न्यायकोश, भीमाचार्य, वैषम्यनैर्धृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति। ब्रह्मसूत्र, 2।1।34।
9. न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्। ब्रह्मसूत्र, 2।1।35।
10. यथा धेनु सहस्त्रेषु वत्सो विदन्तिमातरम। तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति।। महाभारत शान्ति पर्व 322।16।
11. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषुकदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। भगवद्गीता, 2।47।
12. डॉ. गीतारानी, धर्मशास्त्रों का समाज दर्शन, पृष्ठ सं0 44।
13. देवी सिंह डॉ. ज्ञान्ती, गौड़पाद दर्शन–एक आलोचनात्मक अध्ययन पृष्ठ सं0 89।
14. सिंह डॉ बी. एन., भारतीय दर्शन की समस्याऐं, पृष्ठ, 48।
15. दासगुप्ता, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग 1 पृष्ठ, 273।
16. मैत्रायणी उपनिषद्।
17. डॉ. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन 116।

विश्वविद्यालय स्तर पर छात्राओं में विधिक जागरूकता का अध्ययन

पूजा बिष्ट*

शोध सार :–किसी भी राष्ट्र में विधि या कानून एक नियम सहिंता होती है। जो प्रायः लिखी हुई दिशा निर्देशों के रूप में होती हैं। जो समाज को सम्यक ढंग से चलाने के लिए अत्यन्त आवश्यक होती हैं। विधि मानवीय आचरण के सामान्य नियम होते हैं, जो राज्य द्वारा स्वीकृत तथा लागू किए जाते हैं । जिनका पालन करना प्रत्येक नागरिक के लिए अनिवार्य होता हैं। यदि पालन न किया जाए तो न्यायपालिका द्वारा दण्डित भी किया जाता हैं। विधि का निर्माण जन कल्याण हेतु किया जाता है, जिसमें स्त्री–पुरूष दोनों समान अधिकारों के साथ रह सकें। किसी भी स्वस्थ समाज के लिए विधि का होना अनिवार्य होता है। जो एक नियमसंहिता के द्वारा राज्य को सुचारू रूप से चलाती है। शिक्षा के प्रसार से साक्षरता दर में बढ़ोतरी हुई है, और छात्राओं की चेतना की जागृती की अपेक्षा भी की जाती हैं। अब विषय यह है कि क्या छात्रायें अपने विधिक अधिकारों के लिए जागरूक है। इसी के अध्ययन के लिए शोधार्थी द्वारा सोबन सिहं जीना विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा में छात्राओं का विधिक जागरूकता का अध्ययन किया गया।

मुख्य शब्द :– विधिक जागरूकता, कानून, अधिकार, महिला सुरक्षा, उच्च शिक्षा।

प्रस्तावना :– जब बात देश की आधी आबादी की गरिमा से सम्बन्धित हो, तो विषय और भी विचारणीय हो जाता है। आजादी के 75वें वर्ष का अमृत महोत्वसव तो मनाया गया, लेकिन महिलाओं कि आजादी व अधिकारों का उत्सव किस वर्ष मनाया जाएगा, यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया है। इस अस्पष्टता का मुख्य कारण रूढ़िवादी मानसिकता है, जिसने आधुनिकता का चोला तो धारण कर लिया है, लेकिन व्यवहारिकता में उसे अपना न सका हैं। जिसने समाज में एक ऐसे जाल का निर्माण किया है, जिसके गिरफ़्त में सिर्फ महिलाएं ही हैं। जहां उनके अधिकारों का हनन, विचारों पर रोक, परंपराओं के नाम पर सिर्फ शोषण ही होता हैं। आधुनिकता के नाम पर रहन–सहन, खान–पान और वस्त्रों में तो परिवर्तन हुआ है, किन्तु विचारों में परिवर्तन अभी भी शून्य है। अभी भी समाज का आधा वर्ग अपने अधिकारों से परिचित नहीं है। परिचित न होने का सबसे बडा कारण समाज के आधे वर्ग द्वारा दूसरे आधे वर्ग के अधिकारों का स्वयं उपयोग करना हैं। आज भी घर, परिवार व समाज में महिलाएं अपने अधिकारों का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाती, क्योंकि वह स्वंय से परिचित नहीं है। यदि वह स्वंय से परिचित हो गई तो वह अपने अधिकारों से भी परिचित हो जाएंगी। हालांकि शिक्षा ने सभी को शिक्षित तो कर दिया है, किंतु जागरूक नहीं किया है। हम आज भी अपने आस–पास महिलाओं के अधिकारों से संबंधित उन मुदद्ों से वाकिफ ही नही है, जिनसे महिलाओं को कानूनी अधिकार प्राप्त हुए है। जब घटनाएं ही स्मरण में नहीं होंगी, तो अधिकारों की जानकारी का भी अभाव बना रहेगा।

अध्ययन क्षेत्र :– प्रस्तुत शोध का अध्ययन क्षेत्र सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा में छात्राओं का विधि के प्रति जागरूकता का अध्ययन है।

अध्ययन प्रविधि :– प्रस्तुत शोध पत्र में विश्लेषणात्मक अध्ययन पद्धति के साथ प्रश्नावली साक्षात्कार एवं व्यक्तिगत साक्षात्कार/समूह चर्चा का प्रयोग किया गया।

अध्ययन का उद्देश्य :–

- प्रस्तुत शोध पत्र द्वारा छात्राओं कि विधि के प्रति जागरूकता का अध्ययन करना है।
- कानून को वह अपने लिए कितना उपयोगी समझती है और उसे देखने व समझने का दृष्टिकोण क्या रखती है।

***शोधार्थी राजनीति विज्ञान विभाग, सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा।**

- छात्राओं को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करना है, ताकि समय आने पर वह स्वंय के साथ, अन्य कि भी आवाज बन सके।
- उन माध्यमों का पता लगाना जिससे कानून कि जानकारी व उनके अधिकारों के विषय में उन्हें समय–समय पर जानकारी मिलती रहें।

छात्राओं का विधि के प्रति जागरूकता का अध्ययन :– वर्तमान समय में महिलाएं हर क्षेत्र में अपनी भूमिका के माध्यम से देश के विकास में अपना योगदान दे रही हैं। वे सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक रूप से सक्षम हो रही है। सरकार भी उनकी सुरक्षा व स्वतंत्रता के लिए कानूनों का निर्माण करती है। ताकि वे अपने जीवन को बेहतर बना सके और समाज में सकारात्मक बदलाव लाया जा सके। हमारे संविधान में भी स्त्री व पुरूष को समान अधिकार प्रदान किए गए है व महिला सुरक्षा के लिए बेहतर कानून बनाए गए है। मगर समाज में आज भी महिलाओं के प्रति हीन भावना रखी जाती है जिससे महिलायें आज भी असहज महसूस करती है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को कानून तथा अपने संवैधानिक अधिकारों की जानकारी होना बेहद जरूरी है। लेकिन अब प्रश्न यह उठता है कि क्या महिलाएं अपने अधिकारों के लिए जागरूक है। इसी संदर्भ में शोधार्थी द्वारा विश्वविद्यालय में छात्राओं का विधिक जागरूकता का अध्ययन किया गया।

विधिक जागरूकता के अध्ययन के लिए सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा का चुनाव किया गया। जिसमें कला, विज्ञान, वाणिज्य, विधि व शिक्षा वर्ग के स्नातक एवं स्नाकोत्तर की छात्राओं और शोध छात्राओं का अध्ययन किया गया। सभी छात्राओं की आयु सीमा 18 से 28 के मध्य थी।

तालिका–1

विश्वविद्यालय में छात्राओं का विधिक जागरूकता के अध्ययन की संख्यात्मक स्थिति

पृष्ठभूमि	स्नातक			स्नाकोत्तर			विधि संकाय	उच्च शिक्षा		कुल संख्या
	बी.ए	बी.एससी.	बी.कॉम	एम.ए	एम.एससी	एम.कॉम		बीएड	पीएचडी	
ग्रामीण क्षेत्र	50	30	25	30	20	15	20	25	05	220
शहरी क्षेत्र	30	45	50	40	30	30	30	20	20	295
कुल सं0	80	75	75	70	50	45	50	45	25	515

स्रोत–शोधार्थी प्रश्नावली सर्वेक्षण–2022

तालिका–2

कानूनी रूप से महिला व पुरूष क्या समान हैं

प्रतिक्रिया	**छात्राओं की संख्या**	**प्रतिशत**
हाँ	320	62
नहीं	180	35
पता नहीं	15	03

स्रोत–शोधार्थी प्रश्नावली सर्वेक्षण–2022

शोधार्थी द्वारा पूछे गये इस प्रश्न पर, विश्वविद्यालय में स्नातक में प्रवेश लियें छात्राओं का कहना था कि महिला और पुरूष कानूनी रूपी से समान नहीं है। ऐसा कहने के पीछे उनकी सामाजिक सोच थी, जिसमें सदैव ही स्त्री और पुरूष में भेद किया है। घर, परिवार व समाज में हमेशा से यहीं सुनने और देखने को मिला है कि लड़कियां पराई होती है और लड़के अपने होते है। जिन के पुत्र अधिक हो उन्हें सौभाग्यशाली और जिनके पुत्रियां हो उन्हें अभागा समझा जाता हैं। जिससे इन छात्राओं की यहीं धारणा बनी हैं कि कानून की नजर में महिला और पुरूष समान नहीं है।

हमारे वेदों में नारी को अत्यंत महत्वपूर्ण, गरिमामय व सम्मानित उच्च स्थान प्राप्त है। विश्व के किसी भी अन्य धर्मग्रंथ में स्त्रियों कि शिक्षा–दीक्षा, गुण, अधिकार, कर्तव्य का वर्णन नहीं मिलता है, वहीं हमारे वेदों में उनकी सामाजिक भूमिका का सुन्दर वर्णन पाया जाता है। उन्हें साम्राज्ञी, यज्ञीय, विजयिनी

जैसे उपनामों से सम्मानित किया गया हैं। यजुर्वेद 20.9 में लिखा है स्त्री और पुरूष दोनों को शासक चुने जाने का समान अधिकार हैं।[1] जो यह प्रमाणित करता है, कि स्त्री और पुरूष समान हैं।

भारतीय संविधान में संविधान निर्माताओं ने स्वतंत्रता के बाद ही महिला व पुरूषों को समान अधिकार प्रदान किए थे। समानता का अर्थ है कि प्रत्येक लिंग का समान रूप से प्रतिनिधित्व किया जायें। संविधान में स्त्री और पुरूष दोनों वर्गों से ऊपर मानवता के कल्याण के विचारों के आधार पर कानून का निर्माण किया था। संविधान द्वारा महिलाओं को प्राप्त अधिकार–

1. कानून में समानता का अधिकार (अनु0 14)
2. जाति, धर्म, लिंग, स्थान के अनुसार समानता का अधिकार अनु0 15(1)
3. महिलाओं और बच्चों के हित में कुछ विशेष अधिकार अनु0 15(3)
4. नौकरी या उसके अवसरों के लिए समानता का अधिकार अनु0 (16)
5. महिला–पुरूष को समान जीवन जीने का अधिकार अनु039(ए)
6. महिला को समान कार्य के लिए समान वेतन का अधिकार अनु0 39(डी)
7. प्रसूति अवकाश का प्रावधान अनु0 (42)
8. परिवार तोड़ने या भावनाओं को ठेस पहुंचाने के विरूद्ध प्रावधान अनु0 51 ए (ई)[2]

शोधार्थी द्वारा जब छात्राओं से पूछा गया कि क्या वह महिला आयोग व मानवाधिकार आयोग एवं महिला सुरक्षा हेल्पलाइन नम्बर 1090 के बारे में जानकारी रखती है तो सभी छात्राओं ने हाँ में जवाब दिया, क्योंकि वह इन शब्दों को सुनते आये हैं। अक्सर किताबों में, समाचार पत्रों में या अपने आस–पास इन शब्दों का इस्तेमाल होता आया है, लेकिन विधि संकाय की छात्राओं के अतिरिक्त अन्य सभी छात्राओं को इसकी स्पष्ट जानकारी नहीं है। यह क्या कार्य करता है व इसके क्या अधिकर क्षेत्र है, वह इससे परिचित नहीं है।

तालिका–3

विशाखा गाइडलाइन और निर्भया एक्ट के विषय में जानकारी का अध्ययन

प्रतिक्रिया	छात्राओं की संख्या	प्रतिशत
हाँ	120	23
नहीं	395	77

स्रोत–शोधार्थी प्रश्नावली सर्वेक्षण–2022

शोधार्थी द्वारा जब छात्राओं से विशाखा गाइडलाइन और निर्भया एक्ट के बारे में पूछा गया तो विधि संकाय के छात्राओं के अतिरिक्त कुछ अन्य छात्राओं को इसके विषय में जानकारी थी। शेष छात्राओं में से अधिक छात्राओं ने यह शब्द पहली बार सुना था, बाकि अन्य ने शब्द तो सुना था लेकिन जानकारी नहीं थी। छात्राओं से जब यह पूछा गया कि क्या आप अपने परिवार, सहपाठियों, प्राध्यापकों से कानूनी विषयों में चर्चा करती है। तो उसमें से सिर्फ 20% छात्राएं ही कानून के विषय में चर्चा करती थी, बाकि शेष 80% किसी प्रकार की कोई भी चर्चा का हिस्सा नहीं बनती थी। कानून पर ही जब चर्चा न हो रही हो, तो उससे सम्बन्धित कानूनी अधिनियम के बारे में जानकारी का भी अभाव बना हुआ था।

तालिका–4

परिवेश में हो रहे भेदभाव/उत्पीड़न की रिर्पोट दर्ज कराये जाने का अध्ययन

प्रतिक्रिया	छात्राओं की संख्या	प्रतिशत
हाँ	150	29
नहीं	80	16
पता नहीं	285	55

स्रोत–शोधार्थी प्रश्नावली सर्वेक्षण–2022

तालिका–4 के अध्ययन से छात्राओं के मध्य जागरूकता की कमी की स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। अधिक संख्या में 'पता नहीं' उत्तर देने वालों का कहना था, कि वह इस विषय के सकारात्मक एवं नकारात्मक परिणामों से परिचित है ही नहीं कि वह हाँ या नहीं पर उत्तर दें। इसके पीछे सबसे बड़ा कारण विश्वविद्यालय स्तर पर किसी भी प्रकार का कोई विधिक जागरूकता शिविर या लैगिंक कार्यशाला का आयोजन न होना है।

इस विषय पर शोधार्थी द्वारा पुलिस विभाग से भी चर्चा करी गई, तो उनका कहना था, कि अक्सर छात्र चुनाव या किसी उपद्रव के दौरान ही उन्हें सूचित किया जाता है। बाकि अन्य किसी भी कार्यशाला के लिए आमंत्रित नहीं किया जाता है। पुलिस कर्मियों के अनुसार पुलिस जनता की सुरक्षा व व्यवस्था के लिए है। इसलिए पुलिस का हर स्तर पर सहयोग करना जरूरी है, ताकि पुलिस जनता कि मद्द से अपराध व अपराधियों पर नियंत्रण बना सकें। यह सब सम्भव तभी होगा जब लोग जागरूक होंगे, और समाज के प्रति अपने कर्तव्य को समझेगें। इसके लिए छात्राओं का जागरूक होना अनिवार्य हैं, ताकि वह अपने अधिकारों का समय आने पर उपयोग कर सकें। अतः विश्वविद्यालय द्वारा या छात्राओं द्वारा उन्हें कानूनी जानकारी प्रदान करने के लिए बुलाया जाता है, तो वह ऐसे आयोजनों का हिस्सा बनेंगे।

महिलाएं परिवार बनाती है, परिवार से घर का निर्माण होता है, घर से समाज बनता है और समाज राष्ट्र का निर्माण करता हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि महिलाओं की भूमिका हर जगह है। महिलाओं की क्षमता को नज़रअंदाज करके समाज की कल्पना करना व्यर्थ हैं। आवश्यकता है ऐसे समाज का निर्माण करना जहां भेदभाव नहीं अपितु गुणों के आधार पर समानता लाईं जायें। स्कन्दपुराण में कहां है, **दशपुत्रसमा कन्या दशपुत्रान्प्रवर्धयन्। यत्फलं लभते मर्त्यस्तल्लभ्यं कन्ययैकया।।**[3] भावार्थः अकेली कन्या ही दस पुत्रों के समान है। दस पुत्रों के लालन पालन से जो फल प्राप्त होता है वह अकेले कन्या के पोषण से ही प्राप्त हो जाता है। लेकिन जरूरी है अब कन्याओं का अपने अधिकारों से व उनकी सुरक्षा के लिए बने कानूनों से परिचित होना, ताकि समय आने पर वह अन्याय के खिलाफ आवाज़ उठा सकें। एक स्वस्थ्य समाज के निर्माण में अपनी भूमिका अदा करें।

निष्कर्ष :– यह ध्रुव सत्य है कि नारी सशक्तिकरण की आधारशिला शिक्षा है। वर्तमान में शिक्षा सभी तक पहुंच चुकी है लेकिन अपने अधिकारों, कानूनों की जानकारी का आभाव अभी भी बना हुआ है। मनुस्मृति का श्लोक है, **नारी अस्य समाजस्य कुशलवास्तुकारा अस्ति।**[4] भावार्थ महिलाएं समाज की आदर्श शिल्पकार होती है। लेकिन वो ही अगर कानूनों से परिचित नहीं होगीं तो उसका प्रभाव समाज में भी पड़ेगा। कहा जाता है कि **नारी राष्ट्रस्य अक्शि अस्ति।**[5] अर्थात् महिलाएं देश की आंख होती हैं। यदि आंख ही स्पष्ट नहीं देख पायेंगी, तो शरीर रूपी राष्ट्र विकास के क्रम में आगे नहीं बड़ पायेंगा। विश्व के विकास में महिलाओं की भागीदारी व अपने अधिकारों की जागरूकता यही वर्तमान की मांग है। छात्राओं में अधिकारों व कानून के प्रति जागरूकता के लिए आवश्यक है, कि समय–समय पर विषय आधारित सेमिनार, गोष्ठी का आयोजन किया जायें। लैंगिक जागरूकता के लिए विधि से सम्बन्धित कार्यक्रमों में छात्राओं की भागीदारी बढानी चाहियें व विश्वविद्यालय स्तर पर छात्राओं के मध्य ही जागरूकता आधारित कार्यक्रमों का प्रचार प्रसार किया जाना चाहिए। वर्तमान में कानून की जानकारी छात्राओं के लिए एक शस्त्र है, जिससे वह पुरूष प्रधान समाज में अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर सकती हैं और अन्य कई महिलाओं को उनके अधिकारों से अवगत करा सकती हैं। एक प्रसिद्ध वाक्य है–

'बदला जाये दृष्टिकोण यदि, तो इन्सान बदल सकता है।
दृष्टिकोण के परिवर्तन से अरे! जहान बदल सकता है।'[6]

सन्दर्भ–सूची :–

1. वेदवाचस्पति, प्रियव्रत, 'मेरा धर्म', श्री स्वामी श्रद्धानंद अनुसंधान प्रकाशन, गुरूकुल कांगड़ी, हरिद्वार, 2003, पृष्ठ 24।
2. मिश्रा, महेंद्र कुमार, महिलाओं के कानूनी अधिकार, के.के.प्रकाशक, 2022, पृष्ठ 51।
3. स्कन्दमहापुराणम् 23.46।
4. मनुस्मृति 3.62।
5. मनुस्मृति 3.125।
6. गीत संजीवनी (कविता संग्रह), 'बदला जाये दृष्टिकोण', अखिल विश्व गायत्री परिवार, पृष्ठ 657।

अम्बेडकर के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में हिन्दी दलित साहित्य

डॉ. संदीप कुमार पाण्डेय*

डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर का पूरा नाम भीमराव रामजी अम्बेडकर था। उनका पैतृक स्थान रत्नागिरी जिले के मंडणगड तहसील में एक छोटा सा ग्राम आंबवडे है। भीमराव की माता का नाम भीमाबाई और पिता जी का नाम रामजी वल्द मालौजी सकपाल था। महाराष्ट्र में अपनी वीरता, पराक्रम और ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध, प्रभावशाली, अस्पृश्य कहलाये जाने वाली महार जाति में उन्होंने जन्म लिया था।

हिन्दी साहित्य में वर्तमान में स्त्री–विमर्श और दलित–विमर्श पर खूब चर्चा चल रही है। दलित–विमर्श की जब चर्चा होती है तो उस समय दलितों के अग्रदूत अम्बेडकर का नाम आना स्वाभाविक है। बाबासाहब का उन लोगों (जो हिन्दू धर्म का अंग माने जाते हुए भी उससे बहिष्कृत थे) के लिये आह्वान था कि – शिक्षित हो, संगठित हो, संघर्ष करो। इसका प्रभाव दलित साहित्य में पूर्ण रूप से दिखाई देता है। इन्हीं तीनों के सहारे दलित आगे बढ़ता है और इसी से प्रभावित होकर दलित साहित्य लिखा गया। कवंल भारती लिखते हैं – ''हिन्दी साहित्य में दलित वर्गों के सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण करने का श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को दिया जा सकता है, तो वे चन्द्रिकाप्रसाद जिज्ञासु ही हैं। यद्यपि उनका यह सौन्दर्यबोध स्वामी अछूतानन्दजी के प्रभाव का परिणाम था, पर इसका विकास डॉ. अम्बेडकर के विचारों से हुआ था।''[1]

दलितों द्वारा दलित साहित्य लेखन की शुरूआत मराठी भाषा में हुई। जिसमें अण्णाभाऊ साठे, जयवंत दलवी, नामदेव ढ़साल, शरणकुमार लिंबाले आदि साहित्यकारों का नाम आता है। बच्चन सिंह के अनुसार– ''सबसे पहले 1960 के आसपास मराठी भाषा में इसके (दलित साहित्य) लेखन की शुरूआत हुई। अम्बेडकर महाराष्ट्री थे। उनके पास एक विचारधारा भी थी। मराठी दलित साहित्य उसी पर आधारित है।"[2]

दलित साहित्यकारों ने बाबासाहब की तरह अवतारवाद का भी विरोध किया। उन्होंने बार–बार किसी एक महापुरुष या देवता के भरोसे बैठे रहने तथा उसकी बातों को सत्य मान लेने का विरोध किया। अम्बेडकर चाहते हैं कि दलितों में निर्भीक नेतृत्व भरे और उनमें जानकार, ईमानदार और स्वाभिमानी नेता आए। याद कारण 'याद' अपनी गजल में लिखते हैं –

यह भाग्य विधाता तो केवल एक ढोंग है, सचमुच धोखा है,
पाखण्ड और आडम्बर से तुम भी हट लो हम भी हट लें।
शिक्षित हो संघ समर्पित हो आओ मिलकर संघर्ष करें,
जय भीम के अद्‌भुत नारे को तुम भी रट लो, हम भी रट लें।[3]

यह याद करण की याद में दलितों में अस्मिता और आत्मविश्वास उत्पन्न कराने का प्रयास है जो बाबासाहब का प्रमुख ध्येय था।

बाबासाहब जाति प्रथा के विरोधी थे। वे जाति को आर्थिक विकास की रूकावट में महत्त्वपूर्ण कारण मानते थे। इससे वे स्थितियाँ पैदा होती हैं जो कृषि तथा अन्य क्षेत्रों में सामूहिक प्रयत्नों के विरुद्ध हैं। उनका कहना था जाति–पाँति के रहते हुए ग्रामीण विकास समाजवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध रहेगा। बाबासाहब ने लिखा है – ''–जब तक भारत में जाति प्रथा विद्यमान है, तब तक हिन्दुओं में अन्तर्जातीय विवाह और बाह्य लोगों में शायद ही समागम हो सके और हिन्दू, पृथ्वी के अन्य क्षेत्रों में भी जाते हैं, तो भारतीय जाति–पाँति की समस्या विश्व की समस्या हो जायेगी।''[4] आज दलित साहित्य के निर्धारण में भी जाति व्यवस्था रूकावट और कलह का केन्द्र बन रही है। आत्मकथात्मक उपन्यास, कहानी आदि विधाओं में जाति व्यवस्था ही हर जगह रूकावट डालती है। मन्दिर, विद्यालय, अस्पताल, शादी आदि वर्णनों के समय जाति

***अतिथि विद्वान, हिन्दी, शासकीय महाविद्यालय, कुरवाई, विदिशा (म.प्र.)**

ही बाधा डालती है, जो अम्बेडकर साहित्य से प्रभावित मुख्य बिन्दु है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कहानी सपना में वर्णन करते हैं – ''अरे, यह मन्दिर उसका कैसे हो गया। ज्यादा ही पूजापाठ का शौक है तो अपना मन्दिर बना ले अलग से। किसने रोका है। यह हमारा है। हम पूजापाठ, अनुष्ठान अपने ढंग से करेंगे। उसमें किसी शूद्र या मलेच्छ का प्रवेश निषेध है।''[5]

अम्बेडकर से प्रभावित साहित्य सामाजिक स्वतंत्रता की स्थापना करना चाहता है। शिकायत, नकार, चिढ़, गुस्सा, विद्रोह आदि भरा हुआ है, जो सामाजिक स्वतंत्रता से ही जा सकता है। जिससे मनुष्य के व्यवहार, मनुष्य और मनुष्य के बीच में प्रेम बने। अम्बेडकर गाँधी जी से कहते हैं – ''आप कहते हैं यह मेरी मातृभूमि है, लेकिन मैं फिर कहता हूँ कि मेरी मातभूमि नहीं है। जिस किसी अस्पृश्य व्यक्ति को तनिक भी स्वाभिमान है, जिसमें इंसानियत जाग उठी है, वह उस देश को कभी यह नहीं कहेगा कि 'यह मेरा देश है', जिस देश में उसे कुत्ते, बिल्ली जैसी जिन्दगी जीना नसीब नहीं होता, यह जिसके हिस्से में उनकी भी सहानुभूति नहीं आती जो जानवरों को मिल पाती है।''[6]

स्वतन्त्रता की लड़ाई किसी व्यक्ति, जाति या राष्ट्र के विरुद्ध न होकर एक उस व्यवस्था के विरुद्ध थी जो घोर अत्याचारी, अन्यायी, पक्षपाती और अमानवीय थी। इस कुव्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिये लाठी–गोलियाँ खाने एवं फाँसी का फन्दा चूमने वालों की आँखों में एक ऐसे भारत का स्वप्न तैरता था, जो भय–भूख और भ्रष्टाचार से मुक्त था। व्यक्तिगत स्वार्थ पूरी व्यवस्था को निगलने लगा। इससे जुड़कर साहित्यकार निर्भीक, सुयोग्य, युग, चेतक, जनवादी, साहित्य लिखने लगे और यथार्थ का चित्रण करते थे। दलित साहित्यकार भय–भूख और भ्रष्टाचार से तंग आ जाता है तब भगवान पर दोष मढ़ता है, जो अम्बेडकरवाद से आया। शरणकुमार लिंबाले अपनी कहानी 'समाधि' में लिखते हैं – ''यहाँ का भगवान भी मनुष्यद्रोही है। वह सवर्णों को एक पलड़े में रखता है तो शूद्रों को दूसरे पलड़े में तोलता है। सारे हक–अधिकार वह सवर्णों को ही दे देता है। यह समाज धर्म के नियमों से जकड़ा हुआ है।''[7]

समता, मैत्री एवं बन्धुता पर आधारित अम्बेडकर साहित्य है। डॉ. अम्बेडकर वक्तव्यों, लेखों, पुस्तकों और भाषणों में मैत्री व्यवस्था पर जोर देते थे। जिसका उदाहरण वाल्मीकि के 'सदियों का संताप' में मिलता है। वाल्मीकि कहते हैं–

दोस्तों,
इस चीख को जगाकर पूछो
कि अभी ओर कितने दिन
इसी तरह गुमसुम रहकर
सदियों का संताप सहना है।[8]

वाल्मीकि 'सदियों का संताप' काव्य के संग्रह में लिखते हैं –

युग पुरुष डॉ. भीमराव अम्बेडकर
को
जिसने आदमी की तरह
जीना सिखाया
साथ ही उन सबको
जो युगों–युगों से
मूक बने
अन्याय सहते रहे
और
इन कविताओं का कारण बने।''[9]

वाल्मीकि 'सदियों का संताप' के 'दूसरे संस्करण की भूमिका' में लिखते हैं। ''डॉ. अम्बेडकर के दर्शन को अपनी अभिव्यक्ति का आधार मानकर चलने वाले दलित रचनाकारों ने अपना अलग रास्ता चुना।

वर्ण व्यवस्था, सामन्तवाद, ब्राह्मणवाद, पूँजीवाद के विरुद्ध दलित चेतना से लैस अपने वैचारिक आधार को फूले, अम्बेडकर, बुद्ध से जोड़ने की प्रवृत्ति ने दलित कविता को वैचारिक शक्ति प्रदान की।''[10]

बाबासाहब का ध्यान महिलाओं की शिक्षा पर भी था। वे लड़कों के साथ–साथ लड़कियों की शिक्षा पर बल देते थे। उनका मानना था सारे समाज की प्रतिष्ठा, प्रगति और कीर्ति नारियों के हाथ में हैं, जो हिन्दी दलित कहानी, उपन्यास, कविता, आत्मकथा में दिखाई देती है। साहित्य की परम्परा में पहली बार इस उपेक्षित वर्ग की यातना को शब्द–बद्ध किया गया। साहित्य ने एक नया सौन्दर्यशास्त्र दिया, इससे युक्त साहित्यकारों ने अम्बेडकर को ही अपने प्रेरणास्रोत के रुप में देखा। इसके पहले साहित्य कुछ विशिष्ट वंशों के गान से भरा था। विशिष्ट की श्रेष्ठता बतलाते–बतलाते साहित्य दूसरे की निन्दा करता था। इस कारण साहित्य में निकृष्टता रहती थी। परन्तु अम्बेडकरवादी साहित्य में ऐसा नहीं है।

बाबासाहब शिक्षा पर अधिक बल देते थे, क्योंकि समाज की मानसिकता को बदलने के लिये शिक्षा ही एक उपयुक्त साधन था। अम्बेडकर, जोतिबा फूले से प्रेरित थे। फूले जी का मन्त्र था –

''ज्ञान के अभाव में मति (बुद्धि) गई,
बुद्धि के अभाव में नीति गई,
नीति के अभाव में गति गई,
गति के अभाव में सम्पत्ति गई,
सम्पत्ति के अभाव में शूद्र बर्बाद हो गये,
केवल ज्ञान के अभाव में इतना अनर्थ हो गया।''[11]

शूद्रों की इस गुलामी के मूल में 'ज्ञान' का अभाव है। इस कारण शूद्रों के ज्ञान के दरवाजे खोलना बाबासाहब का आग्रह था। 'मुक्ति पर्व' में सुनीत सोचता है – ''जब बाबासाहब अम्बेडकर इतनी गरीबी में पढ़ सकते हैं तो वह क्यों नहीं पढ़ सकता। अम्बेडकर ने तो सारे दलित समाज का सिर ऊँचा किया था। उन्होंने गुलामी से छुटकारा दिलाया था, उन्हें एहसास दिलाया था कि वे गुलाम नहीं हैं।''[12]

शिक्षा का प्रभाव पूरे हिन्दी दलित साहित्य पर दिखाई देता है जो अम्बेडकर से ही प्रेरित है। बाबासाहब ने बौद्धधर्म को अपनाया और कहा बौद्धधर्म हमें प्रज्ञा, करुणा तथा समता का पाठ सिखाता है। भारत के इतिहास में बुद्ध पहले व्यक्ति थे जिन्होंने मनुष्य को केन्द्र बिन्दु मानकर समता, बन्धुता और मैत्री को मूल्य बनाया। बौद्धधर्म में वर्ण व जाति–पाँति या अस्पृश्यता का कोई स्थान नहीं है। अधम से अधम व उच्च से उच्च ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी वर्णों के हिन्दू धर्म के बाहर आकर बौद्धधर्म में शामिल हुए। बौद्धधर्म का प्रवर्तन हिन्दू समाज के शूद्रों व दलितों के लिये एक नयी आशा थी जिसमें शामिल होकर शूद्र व दलित वर्ग अपनी हीनता की भावना त्यागकर समूहबद्ध होकर समानता एवं स्वाभिमान के साथ सम्मानपूर्वक जीवन यापन कर सके। बाबासाहब कहते हैं – ''मेरा समाज तीन शब्दों में निहित हो सकता है, स्वतन्त्रता, समानता और भातृत्वता। लेकिन किसी को नहीं समझना चाहिए कि मैंने इन शब्दों का अनुकरण फ्रांस की क्रांति से किया है। मेरे दर्शन की जड़े धर्म में हैं, न कि राजनीति विज्ञान में। मैंने उन्हें अपने गुरु बुद्ध से सीखा है।''[13]

बाबासाहब के स्वतन्त्रता, समानता और भातृत्वता का प्रभाव भी हिन्दी साहित्य पर पड़ा जिसको साहित्यकार दर्शाते हैं। धर्मवीर लिखते हैं – ''वास्तव में यदि बाबासाहब के पास उस समय भारत के तमाम दलित संतों का साहित्य उपलब्ध होता, तो वे बुद्ध की शरण जाने के बजाय अपने सन्तों के ढिग बैठते। तब वे त्रिपिटक में माथापच्ची कर सिर खपाने के बजाय निर्गुण शब्दवाणी की गंगोत्री में आनन्द स्नान करते, उन्हें मजबूरी में ही इतनी दूर जाना पड़ा था, अन्यथा वे अपना ही महत्त्व बनाते।''[14] धर्मवीर के इस कथन से स्पष्ट होता है कि हिन्दी साहित्य में बाबासाहब के कारण बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा जिसमें त्रिपिटक का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

अम्बेडकर से प्रभावित होकर गैर–दलित साहित्यकार एवं दलित साहित्यकार ने रूढ़िवाद, जातिवाद और भोग्यवाद को नकारा और नारी उत्पीड़न और श्रमिक उत्पीड़न के विरुद्ध, विद्रोह को अपने साहित्य में

स्थान दिया। प्रेमचन्द की 'सद्‌गति', 'दूध का दाम', पं. माधव शुक्ल का 'हम अछूत–हरिजन', मैथिलीशरण गुप्त का 'अछूत', 'हिन्दू', भगवतीचरण वर्मा का 'हिन्दू', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का 'कुल्लीभाट', रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य', नरेश मेहता का 'शबरी', जगदीश गुप्त का 'शम्बूक', अण्णाभाऊ साठे का 'चित्र', 'चंदना', 'फकीरा', भाऊ पाध्ये का 'वासुनाका', शरणकुमार लिंबाले का 'अक्करमासी', 'देवता आदमी', 'छुआछूत', गोपीनाथ मोहंती का 'हरिजन', 'परजा', महाश्वेता देवी का 'हजारी चौरासीर माँ', 'अग्निगर्भ', मोहनदास नेमिशराय का 'अपने–अपने पिंजरे', ओमप्रकाश वाल्मीकि का 'जूठन', 'सलाम', भगवानदास का 'मैं भंगी हूँ', डॉ. जाटल का 'मेरा सफर मेरा जिन्दगी', सूरजपाल चौहान का 'तिरस्कृत', नागार्जुन की 'हरिजन गाथा', आदि साहित्यकारों के साहित्य में अम्बेडकर का प्रभाव दिखाई देता है।

अम्बेडकर से प्रभावित साहित्य में आशा, आकांक्षा, भूख–प्यास आदि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। अम्बेडकरवादी साहित्य रूढ़िग्रस्त तमाम सारे अंधविश्वासों पर आक्रमण कर, वर्ण–व्यवस्था, जाति–पाँति, कर्मफल, पुनर्जन्म, भाग्यवाद को तोड़ते हुए एक उदारवादी साहित्य का निर्माण करता है। साधारण जनता को इन बन्धनों से मुक्ति मिली, जिससे नये चिन्तक, कवि–कलाकार आदि आये और अपने को बंधन से मुक्त होकर देखा। अतीत और वर्तमान का उन्हें पता चला। सांसारिक जीवन साहित्य और कला के मुख्य बिन्दु बने। अम्बेडकर से प्रभावित साहित्यकारों का मूल विषय था – जीवन मूल्य, जो दलितों के साथ मानव जाति के हित में हो। डॉ. मनमोहन दास ने प्रारूप संविधान की धारा–11 में कहा था– ''यह भाग्य का चमत्कार है कि जिस व्यक्ति को एक स्कूल से दूसरे स्कूल को खदेड़ा गया, जिसको कक्षा से बाहर बैठकर सबक लेने के लिए बाध्य किया गया, उसी व्यक्ति को स्वतन्त्र भारत के संविधान निर्माण का महान् कार्य सौंपा गया है। यह वह है जिसने उसे छुआछूत की परम्परा का प्राणान्तक प्रहार किया है जिसका शिकार उसे स्वयं बचपन के दिनों में होना पड़ा था।''[15]

आज के समय में डॉ. अम्बेडकर के विचार और व्यक्तित्व जिज्ञासा और अध्ययन के विषय बन गये हैं। उनकी महान् विद्वता, संकल्प, मनोबल, शक्तिशाली सदाचरण, बुद्धिमत्ता और वाणी को साहित्यकार अपने साहित्य में प्रकट कर रहे हैं जो हमें एक आदर्श साहित्य के तरफ ले जा रहा है जहाँ समानता है। 21 मार्च, 1926 को कोल्हापुर रियासत में मानगाँव में श्री शाहूजी महाराज ने कहा था– ''आप लोगों को अम्बेडकर के रूप में उद्धार करने वाला मिल गया है। वह आपकी बेड़ियों को तोड़कर रहेगा। इस बात पर मुझे पूरा भरोसा है। केवल इतना ही नहीं, भारत के महान् नेताओं की श्रेणी में इसका विशिष्ट स्थान रहेगा।''[16]

सन्दर्भ–सूची :–

1. कथा क्रम, अप्रैल–जून 2011, पृ. 51।
2. सिंह बच्चन, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2006, पृ. 516–517।
3. 'स्नेही' कालीचरण, दलित विमर्श और हिन्दी दलित काव्य, न्यू. रॉयल बुक कम्पनी, लखनऊ, संस्करण–2008, पृ. 226।
4. वही, पृ. 107।
5. बाल्मीकि ओमप्रकाश, सलाम, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण 2010, पृ. 30।
6. मून वसंत, अनुवाद प्रशांत पांडे, डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, संस्करण–2011, पृ. 72।
7. लिंबाले शरणकुमार, अनुवाद निशिकांत ठकार, छुआछूत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2008, पृ. 29।
8. बाल्मीकि ओमप्रकाश, सदियों का संताप, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली, संस्करण–2008, पृ. 46।
9. वही, पृ. 3।
10. वही, पृ. 6।
11. रणसुभे सूर्यनारायण, बाबासाहब अम्बेडकर, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण–2006, पृ. 24।
12. नेमिशराय मोहनदास, मुक्तिपर्व अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2002, पृ. 71।
13. नेमिशराय मोहनदास, अकेला, ए.आर., संकलन बाबासाहब ने कहा था, आनन्द साहित्य सदन, अलीगढ़, संस्करण–2001, पृ. 93।
14. राजकिशोर, सम्पा. हरिजन से दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1997, पृ. 147–148।
15. सिंह श्याम, संविधान सभा में डॉ. अम्बेडकर, भारतीय बौद्ध महासभा, दिल्ली प्रदेश, संस्करण–2001, पृ. 138।
16. मून वसंत, अनुवाद प्रशांत पांडे, डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, संस्करण–2011, पृ. 20–21।

शैलकृत गुहावास्तु एवं मूर्तिकला खोडरी, जिला अनूपपुर (म.प्र)

डॉ. हीरा सिंह गोंड*

प्रस्तावना :– इस क्षेत्र का प्राकृतिक भूगोल आदि मानव के संचरण के लिए उपयुक्त स्थल रहा है। वरनई एवं केवई नदी के विस्तृत क्षेत्र में पल्लवित आदिमानव की संस्कृति से लेकर निरन्तर आधुनिक युग तक क्षेत्र प्रभावित होता रहा है। खोडरी से आदिमानव द्वारा प्रयोग किया जाने वाला प्रागैतिहासिक उपकरण हस्तकुठार एवं नवपाषाणिक कुल्हाड़ी प्राप्त हुआ है[1]। श्रीराम का इस क्षेत्र मे निवास महाभारत काल मे पाण्डवो से सम्बन्ध, अशोक के धम्म विजय, समुद्रगुप्त की दिग्विजय यात्रा, कल्चुरियो का अधिपत्य, चंदेलो का प्रभाव तथा गौडों, बघेलो का प्रभुत्व संदेशो की कहानी आज भी इस क्षेत्र मे ब्याप्त है[2]। ऐतिहासिक काल में यह क्षेत्र कल्चुरियों के सम्राज एवं मेकल के पाण्डु वंश नारेश सूरबल उर्फ उदिरनवैरा के राजकाल के दूसरे वर्ष मे प्रच्चलित ताम्रपत्र प्राप्त हुए है। आसपास के क्षेत्रों उरा, जमुडी, आदि से कल्चुरि कालीन प्रतिमा के अवशेष प्राप्त हुए हैं तथा निगवानी से मराठा कालीन मंदिर चौडार नदी के मध्य बनी है[3]। यह क्षेत्र मराठो के अधिकार से अछूता नहीं रहा। भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को गुहा में निवास करने की आाज्ञा दी थी। पुरातात्विक प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि पर्वतो को काटकर गुफा तैयार किये जाते थे जिनमें भिक्षु निवास करते थे[4]।

मौर्योतर काल में अशोक के प्रपौत्र दशरत के समय में गुफा का निर्माण कार्य किया गया। शुंग काल में कला की उत्तरोत्तर विकास होता गया। भारत वर्ष के पूर्वी एवं पश्चिमी भाग में अनेक गुफाए खोदी गयी उस समय गुफा का मुख्य उद्देश्य धार्मिक कृत्य माना गया[5]। पॉचवी शताब्दी के बाद अधिकतर बौद्ध गुफाएॅ मैदानी भागो में चट्टानों को काटकर तैयार किया जाने लगा[6]। धीरे–धीरे सभी धर्मो बौद्ध, जैन एवं हिन्दु धर्मो में गुफाओं का निर्माण एवं देवी–देवताओं कों उत्कीर्ण किया जाने लगा और वहां अधिकतर गुफाओं में मूर्तियां गुप्तकाल में बनायी जाती थी[7]। इसी प्रकार शिवलहरा अनुपपुर नामक स्थान पर शैलोत्कीर्ण गुफा का निर्माण किया गया जिसमें प्रथम से तृतीय शताब्दी ईस्वी के ब्राह्मी अभिलेख उत्कीर्ण किया है[8]।

शैलकृत गुहावास्तु :– खोडरी नं.1, 23^{0}12 उत्तरी अक्षांश एवं 82^{0}04 पूर्वी देशान्तर के मध्य तहसील मुख्यालय कोतमा से 27 कि.मी. एन.एच. 46 से 24 कि.मी. निगवानी से 15 कि.मी. उत्तर दिशा में पक्का रोड के द्वारा खोडरी तक पहुंचा जा सकता है। गांव से कच्चा रोड 2 कि.मी. उत्तर दिशा में सीतामढ़ी नामक गुफा स्थित है। गुफा की पूर्व में 1 कि.मी. वरनई नदी बहती है। दो कि.मी. आगे चलकर केवई नदी में मिलती है, यहां पर ग्रामवासियों द्वारा पूजा–अर्चना की जाती है तथा महाशिवरात्री के दिन मेला का आयोजन एवं यज्ञो का अनुष्ठान किया जाता है।

गुफा नं 1, :– सीता मढ़ी में विशाल पत्थर को काटकर गुफा का निर्माण किया गया है तथा बाउण्ड्रीवाल के द्वारा घेर दिया गया है। बाउण्ड्रीवाल में प्रवेश करते ही दाये में गुफा नम्बर एक है। जिसकी प्रवेश द्वार उत्तर दिशा में है। दो समान्तर प्रवेश द्वार बनी है जिसकी माप 14X60X40 है। दोनो दरवाजे के मध्य आला बनी है जिसकी माप 28X33X15 है। आले पर हाथी का चित्र उत्कीर्ण किया गया है रोशनदान में ही अलग से हनुमान की प्रतिमा स्थापित किया गया है द्वार के दोनो ओर दाये एवं बाये बनी है दाये रोशनदान 60X82X39 से.मी. एवं बाये रोशनदान 60X75X34 से.मी. माप की है। गुफा में प्रवेश करते ही दो सामान्तर स्तम्भ लगभग 216X32X33 से.मी. गुफा को मजबूती प्रदान करने के लिये बनी हुई है तथा स्तम्भो को सीमेन्ट द्वारा छपाई कर दिया गया है जिसमें स्तम्भ की डिजाइन की पहचान नहीं होती है। गुफा का क्षेत्रफल लगभग 300X400X216 से.मी. की है गुफा के सामने दीवार पर हनुमान की मूर्ति 8X8X2 से.मी.

***सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग शासकीय महाविद्यालय राजनगर, जिला अनूपपर (म. प्र.)**

उत्कीर्ण कर बनायी गयी है। गुफा के बाये कोने में फर्स से लगी आले की तरह 115X125X8 बनी है। हनुमान प्रतिमा भी दाये दीवार में मंकी गॉड 13X55X16 उत्कीर्ण किया गया है। इस गुफा में ग्राम वासियों द्वारा सीमेन्ट से संरक्षण कर दिया गया है।

गुफा नं 2 :– सीतामढ़ी बाउण्ड्री वाल की दूसरी चट्टान पर दो (2,3) गुफा उत्कीर्ण किया गया है। इस गुफा के प्रवेश द्वारा पश्चिम की ओर खुलती है। प्रवेश द्वार का माप 117X60X19 से.मी. की है प्रवेश करते ही आयताकार 114X140X150 से.मी. माप की है। इस गुफा के मध्य गर्भ गृह में शिवलिंग स्थापित है जिसका माप 70X63X75 से.मी. है गुफा के बाहर बायें में नाग के उपर विराजमान कृष्ण बासुरी बजाते हुए उत्कीर्ण किया गया है जिसका माप 130X55X12 से.मी. इस मूर्ति को ग्रामवासियों द्वारा कलर कर दिया गया है।

गुफा न 3 :– गुफा का प्रवेश द्वार पश्चिम की ओर खुलती है तीनों द्वारा सामान्तर है जिसमें पहला द्वार सीमेन्ट ईट लगाकर बंदकर दिया गया है और दूसरी द्वार पर लोहे का दरवाजा लगा दिया गया है। तीनों प्रवेश द्वार की माप लगभग समान 125X50X36 से.मी. की है। गुफा में प्रवेश करते ही बाये दीवार पर गणेश अपने आयुध के साथ ललितासन मुद्रा में बैठे हैं की मूर्ति उत्कीर्ण किया गया है जिसका माप 46X36X7 से. मी. की है। गुफा का क्षेत्रफल लगभग 400X290X180 से.मी. की है। गुफा चार स्तम्भो से युक्त गर्भ गृह का निर्माण करता है प्रवेश द्वार से स्तम्भो की दूरी एवं चारो स्तम्भो की दूरी लगभग समान 100 से.मी. की है तथा स्तम्भो की माप भी लगभग 174X79X59से.मी. है चारो स्तम्भ अष्टकोणीय भार के साथ छत को सम्हाले हुए हैं। प्रथम दो स्तम्भ कोरदार है तथा तृतीय एवं चतुर्थ स्तम्भ में गंगा–यमुना एवं कार्तिकेय द्वारपाल उत्कीर्ण किया गया है तृतीय स्तम्भ पर गंगा और कार्तिकेय उत्कीर्ण है जिसका माप 40X18X3 से.मी., 50X20X5 से.मी. है तथा चतुर्थ स्तम्भ पर यमुना और कार्तिकेय उत्कीर्ण है जिसका माप क्रमशः 45X18X5 से.मी., 50X26X5 से.मी. की है गर्भगृह पर स्थापित शिवलिंग का माप 70X65X8 से.मी. गर्भगृह का क्षेत्रफल 140X140X156 से.मी. है और मण्डप में नन्दी स्थापित है जिसका माप 30X08X24 से.मी. है। गर्भगृह के प्रवेश द्वार स्तम्भ में उत्कीर्ण नदी देवी गंगा यमुना एवं कार्तिकेय तथा मुख प्रवेश द्वार के दाये दीवार में उत्कीर्ण गणेश का अंकन है।

मूर्तिकला :– शैलकृत गुहावास्तु परिसर सीतामढ़ी में आंतरिक, बाह्य एवं द्वार शाखा में विभिन्न भावों में मूर्तियों का अंकन किया गया है। यह प्रतिमा शास्त्रीय, सौंदर्य एवं लोकल कला शैली से परिपूर्ण है। प्रतिमाओं में शैव, वैष्णव एवं शाक्त देवी–देवताओं का अंकन प्राप्त होता है। गणेश, कार्तिकेय, शिव, नंदी, वैष्णव, कृष्ण अवतार, कच्छप, हनुमान और गंगा –यमुना एवं मातृ देवी प्रतिमाओं को उनके वाहन एवं आभूषणों द्वारा सुसज्जित किया गया है।

गणेश प्रतिमा :– गणेश पांच मुख ब्राम्हाण सम्प्रदायों में परिगठित गाणपत्य सम्प्रदाय के ईष्ट देवता है वे शिवगणों के अधिपत्य थे इसलिये उन्हे गणपति कहा गया। गणपति का उल्लेख सर्वप्रथम अथर्वशिरस उपनिषद में विनायक के नाम से हुआ है इसके अलावा महाभारत गृहसूत्र, गणेश पुराण, शिवपुराण में उल्लेख प्राप्त होता है। जैन तथा बौद्ध धर्म में भी गणेश पूजा का प्रचलन था। गुप्तकाल में गणपति सौर्य, आनंद मंगल प्रखर बुद्धि तथा वाणिज्य व्यवसाय के प्रतिनिधि देवता के रूप में पूजे जाते थे[9]। परवर्ती गुप्तकाल से गणेश प्रतिओं की विविध रूप से मंगलकारी देवता के रूप लोकप्रियता बढ़ी इसी कारण गणेश की प्रतिमा को मंदिर के मुख्य द्वारा आदि जगहो पर स्थापित किया जाता है। गणेश प्रतिमा की माप 46 X 36 X 7 से.मी. है यह अपने आयुद्ध के साथ स्थापित है।

गंगा–यमुना :– गुफा क्र.3 के गर्भगृह के प्रवेश द्वार स्तम्भ पर भारत की पवित्र नदिया मकरवाहिनी गंगा एवं कूर्म वाहिनी यमुना का अंकन है। सर्वप्रथम गुप्तकालीन कला में गंगा यमुना का चित्रण देखने को मिलता है। विष्णुधर्मेतरपुराण में यमुना के प्रतिमा निर्माण के लक्षणों का उल्लेख है[10]। कालिदास ने भी अपने ग्रंथो में गंगा यमुना का विवरण दिया है। देवी गंगा द्विभग मुद्रा में गंगाजल लिये प्रदर्शित किया गया है तथा दूसरी देवी यमुना को सुंदर रूपकमण्डलु में जल लिए खड़ी है[11]।

कार्तिकेय :– गर्भगृह प्रवेश द्वार स्तम्भ शाखा के दोनो ओर शिव पार्वती पुत्र कार्तिकेय का अंकन है। कार्तिकेय को उनका वाहन मयूर के साथ स्थानक में मुद्रा में बनाया गया है। बांया हाथ कमर पर तथा दायां हाथ में दण्ड रखे हैं। रूपमण्डल व अग्नि पुराण में कार्तिकेय की प्रतिमा निर्माण की जानकारी प्राप्त होती है[12]।

कृष्ण :– गुफा क्र.2 प्रवेश द्वार के बाये चट्टान पर कृष्ण का बासूरी बजाते हुए सुंदर मूर्ति उत्कीर्ण है। विष्णु या कृष्णावतार सबसे अधिक महत्वपूर्ण है इसके सम्पूर्ण जीवन एवं अद्भुत लीलाओं का वर्णन वैष्णव पुराणों में हुआ है[13] नील वर्ण के शरीर पर पीताम्बर शोभित है। मणिमुकुट सुंदर कुण्डल पहने हैं। गले में चमकती हुए लडियो वाली माला कमर तक लटक रहा है।

शिव :–शिव प्रतिमा की जानकारी हड़प्पा संस्कृति से चली आ रही है। शिवलिंग एवं योनि के रूप में पूजा की जाती थी। शिव प्रतिमा का सर्वप्रथम विवरण बौधायन गृहसूत्र में मिलता है। कुषाण काल तक प्रतीक और प्रतिमा दोनो रूप में पूजने लगे[14]। काले पत्थर से निर्मित शिव प्रतिमा सर में मुकुट, गले में सर्प तथा पद्मासन की मुद्रा में बैठे हैं।

नंदी :– नंदी शिव के वाहन के रूप प्रयुक्त हुआ है। वैदिक काल में वृषभ कई देवों का प्रतीक था किन्तु उत्तर वैदिक काल में शिव का ही वाहन माना गया है किन्तु मध्यकाल में इसे बैल के समान मुख वाला प्रदर्शित किया गया है[15] यहां से प्राप्त चार नंदी प्रतिमा है जो गुफा नं. 1 एवं 3 पर स्थापित है। दो गुफा से बाहर पीपल पेड़ के नीचे स्थापित किया गया है।

कच्छप :– कच्छप प्रतिमा नंदी प्रतिमा के बाजू पीपल पेड़ क नीचे उपस्थित है कच्छप को शतपथ ब्राम्हण में ब्रम्हा का अवतार माना गया है। प्रजापति में कच्छप अवतार धारण कर सबकी रक्षा की थी। परन्तु अन्यत्र कच्छप को विष्णु का अवतार माना गया है। सागर को मथते समय कच्छप की पीठ पर घुमता हुआ कला के अंतर्गत बनायी जाती है।

मंकी गॉड :– सकल्पना के रूप में मानव एक बंदर देवता के रूप में जो जनजातियों द्वारा ग्राम देवता के रूप में पूजा करते है। इस बंदर देवता को हिन्दु धर्म में हनुमान के रूप में अपनाया गया है। यह मूर्तिकला यहां की मूल हिसा हो सकता है या इस क्षेत्र के आदिवासियों के रिवाज से सम्बन्ध हो सकता है।

मातृदेवी :– यह रूप पूरी तरह से किसी लोक संस्कृति से सम्बंधित है यह प्रतिभा प्रजनन पूजा की ओर संकेत करती है इसके अतिरिक्त सामान्य उजागर कूल्हो के साथ स्थायी आकृति मौजूद है। सर के उपर मुकुट, दो गोल आकार के अगुठिया पहनी है उसके दोनो हाथ उसकी छाती पर आराम कर रहे हैं, चेहरे का दृष्य सामान्य है।

सन्दर्भ–सूची :–

1. Heritage: Journal of multidisciplinary studies in Archacology-2 (2014) 694 – 704.
2. गोंड हीरा सिंह, शिवलहरा एक ऐतिहासिक धरोहर, भारतीय कला संस्कृति के नवीन अयाम, अलोक श्रोत्रिय, मोहन लाल चढार, पृ –204।
3. मालपानी जे.एन., अनूपपुर जिले का पुरातत्व, भोपाल 2009 पृ –35।
4. वर्मा कामता प्रसाद, कोशल अंक –7 वर्ष –7 पृ –41।
5. वसुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर, विहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना, प्रथम संस्करण मई 1972 पृ. –102।
6. वही पृ. –104।
7. शर्मा आर.के., पृ. –65।
8. गोंड हीरा सिंह, भारतीय कला संस्कृति के नवीन अयाम, अलोक श्रोत्रिय, मोहन लाल चढार, पृ –204।
9. चढार मोहनलाल, अमरकण्टक क्षेत्र का पुरावैभव, नई दिल्ली 2017 पृ. –76।
10. विष्णु धर्मोत्तर पुराण 22/49।
11. चढार मोहनलाल, बहगढ़ नाले से प्रापत कलचुरी कालीन पुरावशेष, कोशल पत्रिका अंक –8 वर्ष 2015 पृ. –1–6।
12. चढार मोहनलाल, पुरावैभव पृ. –82।

13. मिश्र इन्दुमती, प्रतिमा विज्ञान, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल 2009 पृ. –206।
14. चढार मोहनलाल, पुरावैभव पृ. –80।
15. मिश्र इन्दुमती, प्रतिमा विज्ञान, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल 2009 पृ. –277।
16. शतपथ ब्राम्हण 3/5/2/1 7/4/3/5।

चित्र फलक :–

चित्र क्र. 1 सीतामढ़ी गुफा खोडरी

चित्र क्र.2 गणेश

चित्रक्र.3कार्तिकेय

चित्र क्र.4 गंगा

चित्र क्र.5 यमुना

ዏ★ᏡᏒ

भारत में बालिका शिक्षा का अवलोकन
(ऐतिहासिक परिपेक्ष्य से वर्तमान तक)

डॉ. कीर्ति सिंह*

शोध–सार :– आधुनिक युग में ही नहीं वरन् प्राचीनकाल में भी बालिका शिक्षा की आवश्यकता एवं महत्व को स्वीकार किया गया था। प्राचीन काल में अनेक विदुषी स्त्रियों के नाम पढ़ने को मिलते हैं। वर्तमान समय ने बालिका शिक्षा की महत्वता को स्वीकार कर लिया है। किसी भी राष्ट्र की उन्नति में पुरूषों के योगदान के साथकृसाथ स्त्रियों का भी योगदान भी आवश्यक है। प्रस्तुत आलेख बालिका शिक्षा का प्राचीन भारत से स्वतंत्रता के बाद भारत में वर्तमान तक अवलोकन करता है। भारतीय संविधान के द्वारा स्त्री व पुरूष दोनों को सभी क्षेत्रों में समान माना गया और यह कहा गया कि लिंग के आधार पर किसी भी प्रकार का भेजकृ भाव नहीं किया जायेगा। इस आलेख के माध्यम से प्राचीन काल, मध्यकाल, ब्रिटिश युग से स्वतंत्र भारत तक में बालिका शिक्षा के लिए क्या प्रावधान किए गए और वर्तमान में बालिका शिक्षा कि प्रस्थिति है।

प्रस्तावना :– पं. जवाहर लाल नेहरू ने बालिका शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि एक लड़के की शिक्षा केवल एक व्यक्ति की शिक्षा है, किन्तु एक लड़की की शिक्षा सम्पूर्ण परिवार की शिक्षा है।

प्राचीन भारत में बालिका शिक्षा पर बल दिया गया। मध्यकाल के आते आते बालिका शिक्षा कि स्थिति इतनी सुदृढ़ नहीं रही। कालांतर में ब्रिटिश काल में बालिका शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया और शिक्षित स्त्रियों के बिना शिक्षित समाज नहीं हो सकता, ये स्वीकार किया गया। स्वतंत्रता के पश्चात् बने सभी शिक्षा आयोगों ने बालिका शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया। 1964–66 के शिक्षा आयोग ने भी बालिका शिक्षा की आवश्यकता बताते हुए लिखा था कि पुरूषों की तुलना में बालिका शिक्षा अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि बालिका शिक्षा के बिना मानवीय संसाधनों का पूर्ण विकास संभव नहीं है और घरों का सुधार शिक्षित महिलाओं द्वारा ही संभव है। बालिका शिक्षा का शैशव काल में बालकों के चरित्र निर्माण और प्रजनन दर घटाने पर विशेष प्रभाव पड़ता है। प्रजातांत्रिक भारत में आधा मताधिकार स्त्रियों के पास है। अतः यह महसूस किया गया कि शिक्षित स्त्रियों द्वारा मताधिकार का उचित एवं अधिकाधिक प्रयोग किया जा सकेगा। इन सभी कारणों से बालिका शिक्षा की आवश्यकता महसूस की गई।

बालिका शिक्षा का महत्व और आवश्यकता :– प्रजातन्त्र में राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से बालिका शिक्षा का बहुत अधिक महत्व है। स्त्री को पुरूष के समान कर्तव्य निर्वाह तथा अधिकारों का उपयोग करने के अवसरों तथा सुविधाओं की प्राप्ति हुई है। यदि स्त्री पुरुषों के समान योग्य और शिक्षित हो तो वह अपने मतदान का सदुपयोग कर सकती है और राष्ट्र की, समाज की, परिवार की और व्यक्तिगत समस्याओं पर चिन्तन करके उनके हल प्रस्तुत कर सकती है।

एक शिक्षित माता शिक्षा का मूल्य समझती है और माँ के रूप में वह जानती है कि वह अपने बालकों की प्रवृति, रूचि, क्षमता, आवश्यकता के अनुरूप कैसे शिक्षा दे और किस प्रकार मार्ग–दर्शन करे। वह जानती है कि राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों में उसका मार्ग–दर्शन कैसे करे। आज के बालक कल के नागरिक होते है जिनका निर्माण माता के हाथ में होता है। अतः बालिका शिक्षा के विकास की महती आवश्यकता प्रतीत होती है।

बालिका शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीन युग :– प्राचीन काल मे स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार था। वैदिक काल में नारी शिक्षा अपने चरम उत्कर्ष पर थी। नारियों को पुरुषों के समान स्वतन्त्रता प्राप्त थी। ब्रह्मचर्य व्रत से सम्पन्न शिक्षित कन्या को ही गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त था। ऋग्वेद के आधार पर घोषा,

***सह आचार्य, शिक्षा विद्यापीठ, वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)**

गार्गी, आत्रेयी, शकुन्तला, उर्वशी , अपाला आदि उस समय की विदुषी महिलाएँ थी। वेदों का अध्ययन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी और वे पुरुषों के साथ यज्ञ में भाग लेती थी, किन्तु उनके लिए पृथक् विद्यालयों की व्यवस्था नहीं र्थी। बालिकाओं को धर्म और साहित्य के अतिरिक्त नृत्य, संगीत, काव्य रचना, वाद–विवाद आदि की शिक्षा दी जाती थी।

मध्ययुग :– मुस्लिम काल में स्त्रियों की शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी। मुसलमानों में पर्दा प्रथा का प्रचलन होने के कारण अधिकांश बालिकाएँ शिक्षा से वंचित रहती थी। बालिका शिक्षा की जो व्यवस्था थी वह केवल शाही घरानों और कुलीन वर्गो की कन्याओं तथा कुछ मध्यम वर्ग की मुसलमान बालिकाओं के लिए थी जनसाधारण की बालिकाएँ अपनी प्रारम्भिक अवस्था में मकतबों में बालकों के साथ केवल थोड़ा सा अक्षर ज्ञान प्राप्त कर सकती थी इसके अतिरिक्त बालिका शिक्षा की व्यवस्था केवल नगरों में ही थी। सुल्तान इल्तुतमिश की पुत्री रजिया सिंहासन पर आरूढ़ हुई। वह विदुषी महिला थी। उसने अश्वरोहण तथा युद्धकला को भी शिक्षा प्राप्त की थी। मालवा के शासक महमूद खिलजी के पुत्र गयासुद्दीन खिलजी ने सारंगपुर में एक मदरसा स्थापित किया था जिनमें स्त्रियों को कलाओं तथा शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी।

ब्रिटिश युग :– भारतवर्श में अंग्रेजों के आगमन के साथ युग ने करवट बदली। अंग्रेज यहाँ के शासक थे। अंग्रेजों ने अनेक प्रकार के कार्य किये, जो भारतवासियों के लिए नूतन थे। लोगों के विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए और रूढ़ियों को वे छोड़ने लगे। यही वो समय था जब, स्वामी दयानन्द, राजाराम मोहन राय आदि समाज सुधारकों ने सामाजिक कुरीतियों एवं अधंविश्वासों का खण्डन करने के उद्देश्य से ब्रह्म समाज व आर्य समाज की स्थापना की तथा समाज मे नारी को सम्मान दिलाने की दिशा में सराहनीय योगदान दिया। नारी को नर की समकक्षता का अधिकर मिला।

ब्रिटिश काल में विभिन्न आयोगों एवं समितियों में सर्वप्रथम 'वुड के घोषण पत्र'' में यह संस्तुति की गयी थी कि बालिका शिक्षा के लिए उदारतापूर्वक सहायता अनुदान देकर प्रोत्साहित किया जाए। आदेश पत्र में उन व्यक्तियों की सराहना की गई जिन्होनें बालिका शिक्षा को प्रोत्सहित करने के लिए धन दिया था। भारत में स्त्री –शिक्षा के लिए सरकार से पूर्ण सहायता प्राप्त होनी चाहिए। फलस्वरूप नवनिर्मित शिक्षा विभागों ने अनेक स्थानों पर बालिकाओं के लिए प्राथमिक शिक्षा की ओर समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की सिफारिश की। इस काल की एक विशेषता यह थी कि स्त्रियाँ प्राथमिक विद्यालयों में अध्यापिकाओ का कार्य करने के लिए शिक्षा ले रही थी।

''हन्टर शिक्षा आयोग (1882)'' ने नारी शिक्षा को अधिक प्रगतिशील बनाने के लिए आवश्यक सुविधाएँ जुटाने की बात कही। लड़कियों के लिए कन्या नार्मल स्कूल खोलने , उनकी संख्या बढ़ाने, पाठ्यक्रम को सरल और उपयोगी बनाने पर बल देकर आयोग ने बालिका शिक्षा के लिए निरीक्षिकाओ की नियुक्तियाँ करने का सुझाव दिया। इस आयोग की संस्तुति के आधार पर सरकार ने बालिका शिक्षा लयों को अनुदान देना प्रारम्भ किया।

इसी समय 1901 में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शान्ति–निकेतन में बालिका शिक्षा विभाग की स्थापना की थी। सन् 1904 में श्रीमति ऐनी बेसेन्ट ने बनारस मे सेन्ट्रल हिन्दु बालिका विद्यालय की स्थापना की। सन् 1882 से 1902 तक बालिका शिक्षा की प्रगति मन्द अवश्य थी पर वह निरन्तर होती रही। अतः इस अवधि में प्राथमिक शिक्षा में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में सबसे अधिक उन्नति हुई। प्राथमिक विद्यालयों में बालकों और बालिकाओं के पाठ्यक्रम मे अन्तर कर दिया गया था छात्राओं को गणित, भूगोल और इतिहास के स्थान पर संगीत, चित्रकला और सिलाई, कढ़ाई की शिक्षा दी जाने लगी थी। हिन्दू समाज में इस परिवर्तित दृष्टि कोण को उपस्थित करने का श्रेय पण्डित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर और आगरकर जैसे उत्साही समाज सुधारकों को था।

गोखले विधेयक (1911)– गोपाल कृष्ण गोखले पहले नेता थे जिन्होने ब्रिटिश संसद में भारतीय नागरिकों के लिए अनिवार्य शिक्षा की मांग की। उनकी दूरदर्षिता के कारण अनिवार्य शिक्षा विधेयक प्रस्तावित हुआ। सामाजिक कुरीतियों, प्रथाओं, एवं पर्दा प्रथा के कारण अनिवार्य शिक्षा को अपनाना कठिन था, फिर भी

उन्होने सरकार को सुझाया कि वह 6 से लेकर 10 वर्ष तक (चार वर्ष) के लिए प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी।

स्वतन्त्रता के पश्चात :– स्वतन्त्रता के बाद बालिका शिक्षा का जो विकास हुआ है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद बालिका शिक्षा की ओर हमारा दृष्टिकोण ही बदल गया। स्त्रियों को पुरूषों के समान स्तर पर लाने के लिए आवश्यक सामाजिक, आर्थिक और कानूनी परिवर्तन किये गये और एक नये युग का शुभारम्भ हुआ। भारत का संविधान पुरूष और नारी दोनो के लिए समान अधिकार देता है। अनुच्छेद 15(1), 16(1),16 (2) में उल्लेखित है कि किसी भी नागरिक से लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं किया जायेगा

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत में बालिकाओं की स्थिति सन्तोषप्रद नहीं थी। अतः वार्षिक एवं पंचवर्षीय योजनाओं, शिक्षा की सुव्यवस्था हेतु गठित आयोगों एवं समितियों की सिफारिशों और विशेष योजनाओं द्वारा बालिका शिक्षा को उन्नत करने का प्रयास किया गया है।

1. **राधाकृष्णन आयोग (1948–49) :–** राधाकृष्णन आयोग का गठन विश्वविद्यालयी स्तर पर शिक्षा के स्तर को सुधारने हेतु किया गया था। परन्तु इस आयोग ने शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियों की स्थिति पर विचार–विमर्श कर अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की। आयोग द्वारा स्त्रियों की पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थितियों पर भी विचार किया गया तथा निम्नलिखित सिफारिशें की गई –
   - निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जाये।
   - बालिकाओं को विशेष साधन–सुविधाऐं प्रदान की जाये।
   - महिला अध्यापिकाओं की नियुक्ति अधिक से अधिक की जाये।
   - बालिकाओं के अध्ययन हेतु अलग बालिका–विद्यालयों की स्थापना की जाये।
   - बालिकाओं को गृह–विज्ञान गृह–व्यवस्था, संगीत व नृत्य सम्बन्धी शिक्षा प्रदान करने हेतु पाठ्यक्रम बनाये जाये।

2. **माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952–53) :–**माध्यमिक शिक्षा आयोग या मुदालिय आयोग द्वारा अपने प्रतिवेदन में बालिका शिक्षा पर जोर दिया गया तथा बालिकाओं के लिये गृहविज्ञान विषय पढाये जाने की अनुशंसा की गई।

3. **दुर्गाबाई देशमुख समिति (1958–59) :–** इस समिति की प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित रही –
   - केन्द्र व राज्य स्तर पर बालिका शिक्षा परिषदों की स्थापना की जाये।
   - प्रत्येक राज्य द्वारा स्त्री निदेशालय की पृथक व्यवस्था की जाये।
   - केन्द्र व राज्य सरकारें बालिका शिक्षा को बढ़ावा देने हेतु अतिरिक्त धनराशि की व्यवस्था करें।
   - अध्यापिकाओं की कमी को दूर करने के लिए विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिये तथा इस हेतु, निवास आदि का प्रबन्ध किया जाये।
   - मानव संसाधन मंत्रालय में बालिका शिक्षा विभाग की स्थापना की जाये।

4. **हंसा मेहता समिति (1962) :–** बडौदा के गायकवाड विश्वविद्यालय की वाइस चांसलर की अध्यक्षता में, केन्द्र सरकार द्वारा एक और समिति का गठन बालिका शिक्षा के लिये किया गया। इस समिति की अध्यक्षा हंसा मेहता थी तथा इस समिति की प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित थी –
   - लड़के व लड़कियों के पाठ्क्रम में अंतर करना सही नहीं है।
   - गृह विज्ञान विषय को स्वैच्छिक विषय के रूप में लागू किया जाये।
   - संगीत व कला विषयों को भी पढ़ाया जाये।
   - तार्किक विषयों जैसे गणित, विज्ञान हेतु बालिकाओं को प्रोत्साहित किया जाये।

5. **भत्तावत्सलम् समिति (1963) :–**राष्ट्रीय स्त्री परिषद द्वारा इस समिति का गठन किया गया। इस द्वारा सह–शिक्षा पर बल दिया गया तथा यह माना गया कि जनता व सरकार के सामूहिक प्रयास ही बालिका शिक्षा का विकास संभव है। बालिका शिक्षा के प्रसार हेतु उसे समाज से जोड़े जाने की आवश्यकता

है। ग्रामीण क्षेत्रों में बालिका शिक्षा के पिछड़ेपन को दूर करने हेतु पाठ्यक्रम व प्रशिक्षण के स्वरूप में बदलाव की अनुशंसा की गई।

6. **राष्ट्रीय बालिका शिक्षा परिषद (1964) :–** केन्द्र सरकार द्वारा 1959 में गठित समिति को पुनः संगठित किया ग्रामीण क्षेत्रों में बालिका शिक्षा को बढ़ावा देने का प्रयास किया गया। इसकी प्रमुख सिफारिशें निम्न हैः–

- बालिका शिक्षा के लिए जन–सहयोग प्राप्त करने का प्रयास करना।
- ग्रामीण क्षेत्रों में छात्राओं एवं अध्यापिकाओं के रहने की व्यवस्था करना।
- छात्राओं के लिए पाठ्यसामग्री, वस्त्रादि की व्यवस्था।
- निजी सहयोग से बालिका शिक्षा हेतु विद्यालय भवनों की स्थापना, निर्माण व रख–रखाव करना।
- जिला बालिका शिक्षा समितियों एवं महिला मंडलों की स्थापना हेतु जनमत तैयार करना।

7. **कोठारी कमीशन आयोग (1964–66) :–** डॉ. दौलतसिंह कोठारी की अध्यक्षता में गठित शिक्षा आयोग की बालिका शिक्षा के लिये भी महत्वपूर्ण अनुशंसाएं हैं जो निम्नलिखित है –

- महिला अध्यापिकाओं की नियुक्ति अधिक संख्या में की जाये।
- पाठ्यक्रम को बालिकाओं की रूचि के अनुकूल बनाया जाये।
- लड़कों के समान लड़कियों को भी विभिन्न व्यवसायों में आगे बढ़ने हेतु प्रोत्साहित किया जाये।
- बालिकाओं के लिए निःशुल्क छात्रावास, वस्त्र तथा पाठयक्रम सामग्री की व्यवस्था की जाये।
- विद्यालयों में बालिकाओं के नामांकन को बढ़ाने हेतु तथा अपव्यय व अवरोधन को रोकने हेतु प्रभावी कदम उठाये जाये।
- बालिका शिक्षा से सम्बन्धित षोध कार्य किये जाये।

8. **राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) :–** नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में बालिकाओं की शिक्षा से सम्बन्धित प्रमुख सिफारिशें निम्नलिखित है–

- बालिकाओं के नामांकन को अनिवार्य बनाया जाये।
- बालकों के समान ही बालिकाओं को भी शैक्षिक अवसर प्रदान किये जाने चाहिये।
- बालिकाओं की शिक्षा को निःशुल्क किया जाना चाहिये तथा उन्हें अतिरिक्त सुविधाऐं एवं छात्रवृत्ति प्रदान की जानी चाहिये।
- बालिकाओं की शिक्षा हेतु पृथक विद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिये।

(अ) बालिकाओं को व्यवसायिक कौशलों की जानकारी प्रदान की जानी चाहिये तथा उनके लिए तकनीकी शिक्षा संस्थानों की स्थापना की जाये।

महिलाओं की शिक्षा को बढ़ावा देने हेतु समय–समय पर अन्य प्रयास भी हुए। इनमें प्रमुख है–

(1) राष्ट्रीय महिला आयोग (1992)– सुश्री जयंती पटनायक की अध्यक्षता में 31 जनवरी 1992 में इस आयोग की स्थापना की गई। इस आयोग की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य महिलाओं को न्याय दिलाना तथा अमानवीय व्यवहार से संरक्षण प्रदान करना।

(2) इस आयोग का कार्यक्षेत्र महिला सम्बन्धी कानूनों की समीक्षा करना तथा महिलाओं में कानून सम्बन्धी जागरूकता पैदा करना।

(3) महिला कल्याण एवं विकास कार्यक्रम– महिला एवं बाल–विकास विभाग द्वारा महिला कल्याण एवं विकास कार्यक्रम संचालित होते हैं। महिलाओं को रोजगार हेतु प्रशिक्षित करना इसका प्रमुख लक्ष्य है। विभिन्न व्यवसायिक कौशलों को सीखने के बाद महिलाएँ रोजगार प्राप्तकर अपने स्तर में सुधार करती है।

(4) महिलाओं के लिये राष्ट्रीय ऋणकोष – महिलाओं को आर्थिक रूप से सशक्त व आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने हेतु इसकी स्थापना की गई। 15 जुलाई 1993 से 8 करोड़ राशि के साथ यह कार्यक्रम शुरू किया गया। इस कार्यक्रम को 1999 में पुनः नवीनीकृत किया गया।

(5) बालिका शिक्षा – केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार द्वारा समाज में बालिकाओं / महिलाओं की स्थिति में अपेक्षित सुधार हेतु योजनाएँ संचालित है। जिले में बालिका शिक्षा में अपेक्षित उपलब्धि प्राप्त करने हेतु सर्वशिक्षा अभियान के अन्तर्गत निम्न दो योजनाऐं संचालित हैं–

1. कस्तूरबा गाँधी बालिका आवासीय विद्यालय : ड्रापआउट बालिकाओं हेतु।
2. एन.पी.ई.जी.ई.एलः योजना : विद्यालय में अध्ययनरत बालिकाओं हेतु।

बालिका शिक्षा में वांछित प्रगति प्राप्त करने हेतु एवं समाज में महिला की स्थिति में अपेक्षित सुधार हेतु केन्द्र एव राज्य सरकार द्वारा सर्वशिक्षा अभियान के तहत ''कस्तूरबा गांधी बालिका आवासीय विद्यालय'' योजना आरम्भ की गई थी।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 2020 :– नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में बालिकाओं और महिलाओं की शिक्षा में भागेदारी बढ़ाने के लिए कुछ प्रावधान किये गए हैं जिसमें जेन्डर–समावेशी कोष (पैरा 6.8 एन ई पी 2020) की स्थापना एक नया और क्रांतिकारी कदम है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने पूरी ईमानदारी से उन समस्याओं और बाधाओं को पहचाना है जो बालिका शिक्षा बाधक हैं। राष्ट्रीय शिक्षा के नीतिगत प्रावधान बालिका शिक्षा में भागेदारी को बढ़ाने के लिए प्रतिबद्ध है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनईपी) 2020 शिक्षा के सभी स्तरों प्री–स्कूल से लेकर माध्यमिक और उच्च शिक्षा तक सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से वंचित समूहों (एसईडीजी) की एक समान सहभागिता सुनिश्चित करने पर जोर देती है। सामाजिक और आर्थिक रूप से वंचित समूहों की व्याख्या करते हुए राष्ट्रीय शिक्षा नीति में उन्हें अनेक श्रेणियों में बांटा गया है (पैरा 6.2). इन श्रेणियों को लिंग (महिला व ट्रांस जेन्डर व्यक्ति), सामाजिक दृ सांस्कृतिक पहचान (अनुसूचित जाति, जनजाति, ओ बी सी, अल्पसंख्यक वर्ग), भौगोलिक पहचान (जैसे गांव, कस्बे आदि के विद्यार्थी), विशेष आवश्यकता (जैसे सीखने की अक्षमता सहित), सामाजिक– आर्थिक परिस्थिति (जैसे प्रवासी समुदाय, निम्न आय वाले परिवार, असहाय परिस्थिति में रहने वाले बच्चे, बाल तस्करी के शिकार बच्चे या उनके बच्चे, अनाथ बच्चे जिनमें शहरों में भीख मांगने वाले व शहरी गरीब भी शामिल हैं) आदि के आधार पर वर्गीकृत किया गया है। इन्हीं सब के साथ एनईपी,2020 सभी श्रेणियों में बालिका शिक्षा की बात करती है।

सुरक्षा, बुनियादी सुविधाओं की कमी :– राष्ट्रीय शिक्षा नीति में यह अनुभव किया गया है कि सामाजिक–आर्थिक रूप से पिछड़े हुए ये जो भी समूह हैं उनमें सभी में आधी संख्या महिलाओं की है. इसलिए एसईडीजी वर्ग के लिए जो भी योजनाएं और नीतियां राष्ट्रीय शिक्षा नीति में प्रस्तावित की गई हैं उनमें विशेष रूप से इन समूहों की महिलाओं की गुणवत्तापूर्ण शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया है (पैरा 6.7).

बालिकाओं, महिलाओं की शिक्षा के रास्ते में आने वाली बाधाओं और समस्याओं पर नई शिक्षा नीति में विचार किया गया है और उनको दूर करने के लिए अनेक उपाय भी बताए गए हैं। इसके लिए,सर्व प्रथम बालिकाओं की शिक्षा में भागेदारी बढ़ाने के लिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति में जेन्डर समावेशी (इन्क्लूशन) फंड की व्यवस्था की गई है (अध्याय 6).

यह जेंडर समावेशी कोष राज्यों के लिए उपलब्ध करवाया जाएगा जिससे उनको ऐसी नीतियों, योजनाओं, कार्यक्रमों आदि को लागू करने में सहायता मिलेगी जिससे बालिकाओं को विद्यालय परिसर में अधिक सुरक्षापूर्ण और स्वस्थ वातावरण मिल सके. यथा शौचालय स्थापित करना, स्वच्छता और सेनिटेशन संबंधित अन्य सुविधाएं प्रदान करना, स्कूल आने जाने के लिए साइकिल देना, फीस इत्यादि ना भर पाने की स्थिति में उनके अभिभावकों को सशर्त नगद हस्तांतरण करना ताकि गरीबी के कारण उन्हें स्कूल छोड़ने पर मजबूर ना होना पड़े। उनकी सुरक्षा के लिए समुचित कदम उठाए जाएं तो विद्यालयों में बालिकाओं का नामांकन भी बढ़ेगा।

आर्थिक विकास :– राष्ट्रीय शिक्षा नीति में यह भी कहा गया है कि सामाजिक और आर्थिक रूप से वंचित समूहों में छात्रों के लिए मुफ़्त छात्रावासों का निर्माण किया जाएगा जिनमें बालिकाओं की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखा जाएगा।

कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालयों जो कि बालिका शिक्षा के लिए भारत सरकार की पहले से ही एक योजना है, उनका और अधिक विस्तार किया जाएगा (पैरा 6.9). निश्चित रूप से ग्रामीण अंचलों, पहाड़ी और दुर्गम क्षेत्रों, दूर दराज के इलाकों में जहां विद्यालयों की कमी है, विशेष तौर पर बालिका/महिला विद्यालयों और

छात्रावासों की वहां इस योजना के अच्छे परिणाम सामने आएंगे और बालिकाओं का नामांकन बढ़ेगा। राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अध्याय तीन में भी बालिकाओं के लिए सुरक्षित छात्रावास और यातायात के साधनों को उपलब्ध कराने की सिफारिश की गई है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के अध्याय 6 के इन नीतिगत प्रावधानों के अलावा जो प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा से संबंधित हैं, इनके अलावा अध्याय 14 में भी अनेक घोषणाएं हैं जो उच्च शिक्षा से संबंधित है। जैसे अध्याय 14 में गया है कि एसईडीजी वर्ग की शिक्षा के लिए समुचित सरकारी निधि का निर्धारण किया जाएगा, सामाजिक–आर्थिक रूप से वंचित छात्रों को और अधिक वित्तीय सहायता और छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जाएंगी। यह भी ध्यान रखा जाएगा कि उच्चतर शिक्षण संस्थानों में प्रवेश में लिंग–संतुलन को बढ़ावा दिया जाए, अनेक साधनों और माध्यमों से संकाय दृसदस्यों, परामर्शदाताओं, विद्यार्थियों आदि सभी को जेंडर के प्रति संवेदनशील बनाया जाए, परिसर में भेदभाव और उत्पीड़न के लिए बने हुए नियमों को सख्ती से लागू किया जाए आदि. ये सभी व्यवस्थाएं उच्चतर शिक्षा संस्थानों में महिला विद्यार्थियों के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण करेंगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि नई शिक्षा नीति 2020 में प्रस्तावित अधिक छात्रवृत्तियां,बालिका छात्रावासों का विस्तार, अलग से जेन्डर समावेशी फंड, क्रेडिट ट्रांसफर, अधिक सुरक्षित स्कूल/ विश्वविद्यालय परिसर आदि अनेक कदम मिलकर बालिकाओं और महिलाओं को एक बड़ी संख्या में विद्यालयों तक लाने में कामयाब हो पाएंगे। इस प्रकार बालिका शिक्षा में भागेदारी को बढ़ाने हेतु नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति के बहुत विस्तृत आयाम हैं।

निष्कर्ष :– आधुनिक काल में ही नहीं वरन् प्राचीनकाल से ही बालिका शिक्षा की आवश्यकता व महत्व को स्वीकार किया गया था। प्राचीनकाल में अनेक विदुषी स्त्रियों के नाम पढ़ने को मिलते हैं। लेकिन धीरेकृधीरे स्त्रियों की समानता व शिक्षा को अस्वीकार किया जाने लगा था। उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति ज्यादा अच्छी नहीं दिखाई पड़ती। उत्तर वैदिक युग के बाद बौद्ध काल में स्त्रियों की स्थिति में सुधार हुआ। मध्य काल को बालिका शिक्षा की दृष्टि से अन्धकार युग के नाम से सम्बोधित किया जाता है। ब्रिटिश काल में भी सरकार बालिका शिक्षा के प्रति अनेक कदम उठाए गए। स्वतंत्रता के बाद बालिकाओं के शैक्षिक स्तर को बढ़ावा देने हेतु अनेकों कमेटियों और आयोग के गठन किए गए। स्वतंत्रता के बाद बने सभी शिक्षा आयोगों ने अपनी अनुशंसाओं में बालिका शिक्षा पर बल दिया और उन्होंने बालिका शिक्षा के प्रसार के लिए सुझाव दिये। बालिका शिक्षा के लिए 1958 में श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में, 1962 में श्रीमती हंसा मेहता की अध्यक्षता में और 1963 में भक्तवत्सलम् की अध्यक्षता में समितियाँ गठित की गई। इन्होंने बालिका शिक्षा के प्रसार के लिए गम्भीर चिन्तन करके अपने सुझाव दिये। वर्तमान में राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 2020 जेंडर भेदभाव को काम करने हेतु अनेकों सुझाव दिए हैं। बालिकाओं का नामांकन बढ़े और उन्हें सुरक्षित वातावरण दिया जाए।

संदर्भ–सूची :–

1. Anil Bhuimali, Education , Emoployment and empowerment of rural women in india , Serials publication, New Delhi.
2. Govt. of india , National policy on education and programme of action , Deptt of MHRD, New Delhi .
3. Govt of india , Education for womens equality , Deptt of MHRD, New Delhi
4. J.C.Agarwal , Indian women education status , Ary book depot –New Delhi
5. Leslie Calman, toward empowerment :women and movement politics in India, Westview Press.
6. M.Gupta , Women and educational development , Sarui and sons publications , New Delhi.
7. N.l.Gupta , Women’s education through the age , Concept publishers, New Delhi.
8. Rosemary Bellew ,Womens education in developing countries , Baltimore .
9. Susie Tharu , Women writing in India 600BC to present , Feminist press , New York .
10. T.Sudha , Education , Employment and empowerment of rural women in India , Global research publication , New Delhi.

साहित्यदर्पणानुसारं पञ्चाननतर्करत्नविरचिते अमरमङ्गले नान्दीविमर्शः

श्यामसुन्दरः सर्दारः *

अखिलेऽस्मिन् भाषासु संस्कृतभाषा प्राचीना सर्वोत्कृष्टा च। अर्वाचीनकालेऽपि संस्कृतभाषायां काव्यनाटकादीनि विरचितानि। अर्वाचीनकाले प्रख्यातेषु कविषु पञ्चाननतर्करत्नभट्टाचार्यः अन्यतमः। तस्य कृतिषु अमरमङ्गलम् इति नाटकम् अन्यतमम्। अमरमङ्गलनाटकमिदम् इतिहासाश्रितम्। इदम् अष्टाङ्कविशिष्टं नाटकम्। राणाप्रतापस्य पुत्रस्य उदयपुरस्य राज्ञः अमरसिंहस्य चितोरराज्यसमुद्धारवृत्तान्तम् आधारीकृत्य नाटकमिदं प्रणीतम्। नाटकं यथा नान्दी–प्रस्तावना–अर्थोपक्षेपकादिनाट्यतत्त्वसमन्वितं तथा अलंकारादिकाव्यतत्त्वसमन्वितं भवेत्। विश्वनाथकविराजेन 'साहित्यदर्पणः' इति ग्रन्थः प्रणीतः। नाट्यतत्त्वकाव्यतत्त्वसमन्वितमिदं ग्रन्थानुसारं पञ्चाननतर्करत्नविरचिते अमरमङ्गले नान्दी आलोच्यते।

कूटशब्दाः नान्दीस्वरूपम्, नान्दीपदविचारः, नान्दीलक्षणसङ्गतिः, नान्दीभेदाः, नान्दीसमस्या

नान्दीस्वरूपम् :– नन्दधातोः पचादित्वादच्प्रत्ययेन नन्दशब्दस्योत्तरं 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इत्यनेन स्वार्थेऽणप्रत्यये निपातनाद् दीर्घे तदनन्तरं टिड्ढाणञित्यादिना सूत्रेण ङीपि नान्दीति रूपम्। अपिच नन्दधातोः घञ्प्रत्ययेन निपातनाद् दीर्घे ङीपि नान्दीति सिध्यति। नान्दीति पदस्यार्थ आह्लाददायिनी आनन्ददायिनी वा। कुशीलवैः सम्भाव्यमानविघ्नोपशान्तये पूर्वरङ्गस्य प्रयोगः कृतः। पूर्वरङ्गस्य द्वाविंशतिसंख्यकानि मतान्तरे ऊनविंशतिसंख्यकानि अङ्गानि सन्ति। ऊनविंशतिसंख्यकेषु नान्दी अन्यतमा। तथाहि विश्वनाथेन उक्तं

"यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये। कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते।।
प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि। तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये।।"[1] इति।

नान्दीविषये विश्वनाथेन उक्तं–

"आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते। देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता।।
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी। पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत।।"[2] इति।

अर्थात् इष्टाभिप्रायाविष्करणम् आशीः। रङ्गविघ्नोपशान्तये देवद्विजनृपादीन् उद्दिश्य मङ्गलादिकामनासूचका या स्तुतिः, सा नान्दी इत्यभिधीयते। 'स्तुतिः' इत्यत्र नित्यम्। कविभिः प्राचीनकालाद् नान्दीप्रयोगत्वाद् नित्यत्वम्। आदिपदेन गुर्वादीनां ग्रहणम्। मङ्गलद्योतकं शङ्ख–चन्द्र–कमल–चक्रवागादिकं नान्द्याम् अवश्यमेव उल्लेखनीयम्। नान्दी अष्टपदसमन्विता द्वादशपदसंयुक्ता वा भवेत्। पदशब्दस्य त्रिप्रकाराः अर्थाः विश्वनाथेन स्वीकृताः। यथा श्लोकपादरूपम्, सुप्तिङन्तरूपम्, अवान्तरवाक्यरूपं च। तथाहि नाट्यप्रदीपकारेण भणितं

"श्लोकपादः पदं केचित् सुप्तिङन्तमथापरे। परेऽवान्तरवाक्यं च पदमाहुर्विशारदाः।।"[3] **इति।**

नान्दी केन प्रयुज्यते ? भरतनये षडजादिसप्तस्वरेषु मध्यमस्वरमाश्रित्य सूत्रधारेण नान्दी प्रयुज्यते। भरतेन उच्यते – **"सूत्रधारः पठेत्तत्र मध्यमं स्वरमाश्रितः"**[4] इति। नान्दीप्रयोगकर्ताविषये भरतमतमिदं कैश्चन आलंकारिकैर्न स्वीक्रियते। किन्तु धनञ्जयशिङ्गभूपालादयो मतमिदं स्वीकुर्वन्ति। यथा सागरनन्दिनोक्तं **"प्रधानमङ्गं पूर्वरङ्गे सूत्रधारप्रयोज्यदेवस्तुतिसमाश्रया, आशीर्वचनात्मिका, द्वादशपदा, अष्टपदा वा"**[5] इति। किञ्च दर्पणकारेण कथितं –

"पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्तते। प्रविश्य स्थापकस्तद्वत् काव्यमास्थापयेत्ततः।।"[6] इति।

अमरमङ्गले नान्दीविमर्शः :– अमरमङ्गलनाटकस्य नान्दीश्लोकद्वयं यथा –

"नानारूपधरामरैकशुभदा रक्ता विशुद्धात्मनां मान्या मान्यपरापरा त्रिजगतो धात्री स्वकीयैर्गुणैः।
दृप्यद्वैरिशिरोहराभयकरा स्मेरा चितोरस्थितिः श्यामा भीमगतिर्वरायुधवती देवी शिवायस्तु वः।।"[7] इति।

***गवेषकः, संस्कृत–पालि–प्राकृतविभागः, विश्वभारती, शान्तिनिकेतनम्, पश्चिमवङ्गः, पिनसंख्या –731235।**

अपिच मृताप्यमृतनिष्यन्दा निष्पदापि चतुष्पदा। अवर्णा बहुवर्णापि माता गौरस्तु वः श्रिये।।"[8] इति।

नानारूपेत्यादिश्लोकेन अर्थत्रयं प्रकाश्यते यथा– श्यामादेवीपक्षे, मेवारभूमिपक्षे नाटकार्थसूचनपक्षे च। प्रथमश्लोकस्य महाशक्तिपक्षे श्यामादेवीपक्षे अर्थो विविधमूर्तिधारिणी, देवानां कल्याणकारिणी, रक्तवर्णा, स्वकीयैः चारित्र्यधर्मैः शौर्यादिधर्मैर्वा सत्त्वरजस्तमोभिः गुणैर्वा त्रिभुवनस्य माता, वलवत् शत्रुमुण्डधारिणी, भयहारिणी, खडगधारिणी, चितामध्यस्थितिः श्मशानाग्निमध्यगता वा, महादेववक्षसि आरूढा, स्मितहास्यमयी, शुद्धिचित्तानां माननीया, सदृशरहिता श्रेष्ठरहिता वा, श्यामा देवी अर्थाद् जगद्धात्री श्यामादेवी वा युष्माकं कल्याणाय भवतु।

मेवारभूमिपक्षे अर्थः ब्राह्मणानां जवनभयविनाशिनी, शत्रुशोणिताङ्किता, पराक्रमादिगुणैः मेवारभूमेः त्रिजगतः सज्जनानां माननीया सम्मानसमुत्कृष्टा च, शत्रूणां मस्तकच्छेदनकारिणी, मेवारजनानां जवनभयविनाशिनी, सदा हास्यमयी, शत्रुविनाशिनी, खडगधारिणी, शस्यप्रचुर्यात् श्यामा, देवभूमिवद् भूमिः, आचितोरस्थानविशिष्टा मेवारभूमिः युष्माकं मङ्गलाय अस्तु। अत्र नानारूपधरामरैकशुभदा इत्यस्यार्थो नानारूपाः अर्थात् अनेकप्रकाराः, धरामराः अर्थात् ब्राह्मणाः, एकशुभदा मङ्गलकारिणी, अतो मेवारभूमौ स्थितानां ब्राह्मणानां जवनभयविनाशकारिणी। आरक्ता अर्थात् शत्रुरक्तचिह्निता। मानपरा अर्थात् सम्मानसमुत्कृष्टा। दृप्यद्वैरिशिरोहरा अर्थाद् वलवतां शत्रूणां शिरच्छेदनकारिणी। धात्री अर्थाद् मेवारभूमिः। विशुद्धात्मनाम् अर्थाद् मित्रभावापन्नानाम्। भीमगतिः अर्थात् शत्रुविनाशिनी। वरायुधवती अर्थात् खडगधारिणी।

नाटकार्थसूचनपक्षे अर्थो नानारूपधरा अर्थात् शत्रुनिवारणार्थं छद्मवेशेन बहुरूपधारिणी, रक्ता अर्थात् अनुरागयुक्ता, अमरैकशुभदा अर्थात् अमरसिंहस्य चितोराधिकारकार्यस्य मङ्गलहेतुभूता, विशुद्धात्मनां मान्या अर्थात् सर्वेषां सज्जनानां मान्या, आयुधवती अर्थात् प्रयोजने अस्त्रधारिणी, मानपरा अर्थाद् मानसिंहस्य परा शत्रुः, स्वकीयैर्गुणैः त्रिजगतः परा धात्री अर्थाद् न केवलं मेवारभूमेः पातिव्रत्यादिधर्मैः त्रिलोकस्य जननीस्वरूपा, दृप्यद्वैरिशिरोहरा अर्थात् सदर्पाणां शत्रूणां प्राणहारिणी, अभयकरा अर्थाद् मेवारजनानां शत्रुभयविनाशिनी, श्यामा अर्थात् उदयपुरस्य राज्ञी, भीमागतिः अर्थाद् भीमो भीमानन्दः स गतिः ज्ञानदाता गुरुर्यस्याः। स्मेरा अर्थात् स्मितानन्नी, चितोरस्थितिः अर्थात् तस्याः चितोरगमनं सप्तमाङ्के वर्णितः, वरा देवी अर्थाद् राजमहिषी। अर्थात् बहुरूपधारिणी अनुरागयुक्ता सती राज्ञः अमरसिंहस्य मङ्गलहेतुभूता सर्वेषां सज्जनानां मान्या मानसिंहस्य शत्रुस्वरूपिणी लोकत्रयस्य धात्री शत्रूणां प्राणहारिणी मेवारजनानां शत्रुभयविनाशिनी भीमानन्दो गुरुर्यस्याः, चितोरगमनात्परं राज्ञीरूपाभिषकात् सदा हास्यमयी देवी अर्थात् अमरसिंहस्य पत्नी वः शिवाय अस्तु। अमरमङ्गलनाटकस्य नायकः अमरसिंहः, तस्य शत्रुः मानसिंहः, मानसिंहः जवनपतेः दिल्लीश्वरस्य सेनापतिः, चितोरराज्यं जवनैः अधिकृतं राज्यम्, चितोरराज्योद्धारः अमरसिंहस्य मुख्य उद्देश्यः, तस्य चितोराधिकारो नाटकस्य प्रतिपाद्यविषयः, देवी तस्य पत्नी, युद्धे देवी शत्रूणां प्राणहारिणी।

अपिच, द्वितीयश्लोकोऽपि अर्थत्रयं प्रकाशयति – देवभाषापक्षे, जन्मभूमिपक्षे सौरभेयीपक्षे च। देवभाषापक्षे मृताप्यमृतनिष्यन्देत्यादिद्वितीयश्लोकस्यार्थो– मृता अपि अमरणशीला, निष्पदा अपि चतुष्पदा अर्थात् वङ्गभाषादिवत् प्रदेशविशेषेण अनियन्त्रिता, निष्पदा अपि नाम–धातु–प्रत्यय–उपसर्गयुक्ता वा, पञ्चाशद्वर्णात्मिका अपि वर्णहीना अर्थाद् वर्णनायाः असाध्या, सर्वासां भाषानां जननी देवभाषा युष्माकं मङ्गलाय भूयात्। मेवारभूमिपक्षे श्लोकस्यार्थो मृतापि मरणविरोधी, एकाग्रबुद्धिरहिता अपि चतुराश्रमाणाम् आधारभूता, ब्राह्मणादिवर्णानाम् आधारभूता अपि अवर्णा अर्थात् पराधीनतया अयशोभागिनी, मेवारभूमिः युष्माकं धर्मादित्रिवर्गाय भवतु, अर्थाद् धर्मार्थकामप्रदा भवतु। श्लोकस्थितस्य पदशब्दस्यार्थ एकाग्रबुद्धिरुद्योगश्च। गङ्गादिनदीनां प्रवाहत्वाद् मेवारभूमिः अमरणशीला।

सौरभेयीपक्षे – मरणोन्मुखी अपि अमृतनिष्यन्दिनी अर्थाद् दुग्धघृतप्रसविनी, त्राणरहिता अपि चतुष्पदा, श्वेतरक्तादिवर्णविशिष्टा अपि सम्प्रति क्लेशाधिक्यात् अवर्णा अर्थाद् वर्णयितुम् असक्षमा, माता अर्थाद् गाभी युष्माकम् ऐश्वर्यदायिनी भवतु। श्लोकद्वयस्य 'नानारूपधरामरैकशुभदा रक्ता विशुद्धात्मनाम्', 'मान्या मान्यपरापरा त्रिजगतो धात्री स्वकीयैर्गुणैः', 'दृप्यद्वैरिशिरोहराभयकरा स्मेरा चितोरस्थितिः', 'श्यामा भीमगतिर्वरायुधवती देवी शिवायस्तु वः', 'मृताप्यमृतनिष्यन्दा', 'निष्पदापि चतुष्पदा', 'अवर्णा बहुवर्णापि', 'माता गौरस्तु वः श्रिये' इति प्रत्येकं पाद एव पदम्। अतः श्लोकद्वये अष्टपदानि प्राप्यन्ते। श्लोकद्वयेऽस्मिन् नाटकस्य

सम्भाव्यमानविघ्नोपशान्तये परिसमाप्तये च आशीर्वचनसद्भावात् श्लोकपादरूपाष्टपदसद्भावाच्च श्लोकद्वयस्य नान्दीलक्षणसङ्गतिः भवति।

केषाञ्चन नये शुद्धापत्रावलीभेदेन नान्दी द्विविधा। शुद्धान्तर्गता आशीः नमस्कृतिः माङ्गलिकी च। किञ्च शिङ्गभूपालाद्यालंकारिकैः स्वकीये ग्रन्थे नमस्कृति–आशी–वस्तुनिर्देशश्चेति त्रिविधा नान्दी आलोचिता। अपिच केषाञ्चिन्मते नान्दी नमस्कृति–माङ्गलिकी–आशी–पत्रावलीभेदेन चतुर्धा। यथा सुन्दरमिश्रेण उक्तम्– **"आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशान्यतमा स्मृता।"**[9] इति। अमरमङ्गलनाटके नान्दी पत्रावली नान्दी। यत्र नाटकीयघटना बीजाकारेण श्लेषेण समासोक्त्या वा व्यञ्जिता भवति, सा पत्रावली नान्दी कथ्यते। नाटकस्यास्य नान्दीश्लोकद्वयेन श्लेषेण नाटकीयवस्तुनः सूचनाय वर्णनाय नान्दी इयं पत्रावली।

केषाञ्चन मते पूर्वरङ्गस्य रङ्गद्वाराभिधानम् अङ्गमेव नान्दी। सूत्रधारेण वाचिकाङ्गिकाभिनयात्मकं मङ्गलाचरणं प्रथममारभ्यते। कविरचितमङ्गलाचरणमिदं रङ्गद्वारमित्युच्यते। नान्दीपाठात्परं कविः रूपकं रचयति। प्रचीनमतं विश्वनाथेन आलोचितं साहित्यदर्पणे 'रङ्गद्वारमारभ्य कविः कुर्यात्' इति। कालिदासप्रणीते विक्रमोर्वशीये त्रोटके 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' इत्यनन्तरमेव वेदान्तष्वेत्यादिश्लोको दृश्यते। अत्र नान्दीलक्षणस्य असङ्गतिः दृश्यते, तर्हि श्लोकोऽयं कीदृशः? विश्वनाथमते श्लोकोऽयं 'रङ्गद्वारमारभ्य कविः कुर्यादि'ति। भासस्य नाटकेषु 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इत्यनन्तरं मङ्गलाचरणस्य प्रयोगः प्राप्यते। किन्तु यदि कस्मिंश्चिन्नाटके नान्दी अस्ति रङ्गद्वारं नास्ति, अथवा रङ्गद्वारम् अस्ति नान्दी नास्ति तर्हि किं करणीयम्? विषयेऽस्मिन् रामचरणतर्कवागीशेन भणितं "**तथा च यत्र नान्दी अस्ति रङ्गद्वारं नास्ति, तत्र तन्द्रेण सैव रङ्द्वारम्। यत्र रङ्गद्वारमेवास्ति, न नान्दी, तत्र सा फलवलानुमेया, यत्र त्वारम्भे बहवः श्लोकास्तत्र श्लोकद्वयं नान्दी। अपरे रङ्गद्वारमित्यवधेयम्"**[10] इति।

यदि नाटके नान्दीरङ्गद्वारयो एकस्य अनुपस्थिते एकः श्लोक एव नान्दीरूपेण रङ्गद्वाररूपेण वा स्वीक्रियते। यदि नाटकस्यादौ आशीर्वचनश्लोको तिष्ठति किन्तु अष्टपदद्वादशपदयुक्ता न भवति, तर्हि स श्लोको मङ्गलाचरणम्। यदि नाटके मङ्गलाचरणश्लोकद्वयं तिष्ठति, श्लोकयोः मध्ये प्रथमश्लोकस्य यदि नान्दी लक्षणसङ्गतिर्भवति तर्हि प्रथमश्लोको नान्दी, अवशिष्टः श्लोको मङ्गलाचरणम्। नाटके द्व्यधिके श्लोके सति यस्मिन् श्लोके नान्दीलक्षणसङ्गतिः स्यात् स नान्दी, शिष्टश्लोकसमूहो रङ्गद्वारम्। नाटकस्यादौ एको मङ्गलाचरणश्लोको विद्यते, श्लोके यदि नान्दीलक्षणसङ्गतिर्भवति तर्हि स नान्दी।

नान्दीरङ्गद्वारयोः आलंकारिकाणां वैमत्यं दृश्यते। किन्तु साहित्यदर्पणस्य टीकाकारेण रामचरणतर्कवागीशेन किञ्चित्समाधातुं चेष्टते। रामचरणमतमाश्रित्य वक्तुं शक्यते अमरमङ्गले पूर्वोक्तं आशीर्वचनसंयुक्तश्लोकद्वयं नान्दीलक्षणसमन्वयात् श्लोकद्वयं मङ्गलाचरणं अपिच नान्दी अपि इति मन्ये।

संदर्भ–सूची :–

1. साहित्यदर्पणः(लक्ष्मीटीकोपेतः), विश्वनाथकविराजः, सम्पा. आचार्यकृष्णमोहनशास्त्री, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, २०१८, श्लोकः ६/२३।
2. साहित्यदर्पणः(लक्ष्मीटीकोपेतः), विश्वनाथकविराजः, सम्पा. आचार्यकृष्णमोहनशास्त्री, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, २०१८, श्लोकः ६/२४।
3. नाट्यप्रदीप, सुन्दरमिश्र, सम्पा. राधावल्लभ त्रिपाठी, निउ दिल्ली, राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, २०१५,पृष्ठा.२।
4. नाट्यशास्त्रम् (प्रथमभागः), भरतः, सम्पा. रविशंकरः नागरः, दिल्ली, परिमल पब्लिकेशन्स, २०१२, श्लोकः ५/१०४।
5. नाटकलक्षणरत्नकोशः, सागरनन्दी, सम्पा. वावुलालशुक्लः शास्त्री, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, १९७२, पृष्ठा. ११०।
6. साहित्यदर्पणः(लक्ष्मीटीकोपेतः), विश्वनाथकविराजः, सम्पा. आचार्यकृष्णमोहनशास्त्री, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, २०१८, श्लोकः ६/२४।
7. अमरमङ्गलम्, पञ्चाननतर्करत्नभट्टाचार्यः, सम्पा. डः अन्नदाशङ्करः पाहाडी, कोलकाता, संस्कृत वुक् डिपो, २०१७, श्लोकः १/१।
8. अमरमङ्गलम्, पञ्चाननतर्करत्नभट्टाचार्यः, सम्पा. डः अन्नदाशङ्करः पाहाडी, कोलकाता, संस्कृत वुक् डिपो, २०१७, श्लोकः १/२।
9. नाट्यप्रदीप, सुन्दरमिश्र, सम्पा. राधावल्लभ त्रिपाठी, निउदिल्ली, राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, २०१५, पृष्ठा. २।
10. साहित्यदर्पणः, विश्वनाथकविराजः, सम्पा. युधिष्ठिर गोप, कोलकाता, बलराम प्रकाशनी, २०११, पृष्ठा. १६।

❀★❀

Cultural Encounters and Motifs of Social Reforms

Karsandas Mulji's *England ma Musafari* (Travels to England in 1865)

Dr. Divyeshkumar D. Bhatt*

Many Indians went to England. They had their own unique attractions for the English culture and way of life, at the same times they had their own understandings that if India had to be free it had to be free from the social evils and cultural stigmas and the best solution or alternative structure to this was the English culture. Their views found expressions in many other forms. This paper undertakes an intensive study of a Guajarati travelogue written by a Gujarati man of letters, and social reformer, who travelled to the English shores during the Nineteenth Century in Gujarati, viz *Englandma Pravas*. The study also brings out the way the traveler views the culture and society he visits and presents his own understanding in respect to the social life at Home.

> Travel is the paradigmatic experience, the model of direct and genuine experience, which transforms the person having it. **- Eric Leed**

Travel places the traveler in the surroundings of the foreign land where his imagination catches the traces of differences and similarities which the traveler's psyche keeps on comparing with his homeland cultural diversities. The traveler constantly seeks to find the clues to the motives and designs or the advanced impressions with which the travel has been undertaken. If considered in a broader sense travel offers the traveler with a chance to liberate himself/herself from the abiding weight of traditions at home and allows a freedom to embrace the alien ways, observe and scrutinize them and to arrive at a balanced and matured conclusion which marks in him/her a trace of wisdom acquired through the travels.

Karsandas Mulji presents his account of *Travels to England* (*England ma Musafari*) (1866) in a very detailed and pithy narration. There is an insightful narration of the world, ways of life, trade and commerce and the architectural beauty of the European cities and suburbs, and particularly of Britain and London which he started from 13 March 1863. Basically, he planned his stay there in England for three years, but on account of his failing health, especially ailments pertaining to the respiratory system, he was strongly advised to leave before the winter. He is greatly impressed by the sense and preference of the English people for cleanliness and hygienic habits. Describing the social environment on board the steamer, he writes:

> There are nice curtains framed on the berth so that the three passengers lodging in the cabin could secure their privacy. Mostly the familiar figures or friends are thus accommodated in sharing. There is a neat and clean washing table in every berth, against which mirrors are framed. For water, glass pots are kept constantly filled. Neatly washed towels are supplied on a daily basis. And in case of vomit, an empty vessel is kept ready at one's disposal. (Mulji, 1866, pp. 39-40) (Translation mine from the Guajarati text)

He also talks about the arrangements of meals and dinners and clarifies that save some upper caste Indian passengers, no one concerns the issue of untouchability. He also mentions the arrangements for the bath and latrines (Water Closets). He says there are separate rooms and special cares and efforts are invested to preserve the cleanliness of these places.

***Assistant Professor, Department of English, Faculty of Languages and Literature, Gujarat Vidyapith, Ahmedabad.**

He nicely maintains a clear focus during his narrative that he is penning this account not just for his self-satisfaction but there is a clear-cut notion of educating the citizens at home that the people and the civilization he is attracted towards is in a justified way a well-developed and real sense civilization and in its contrast the Indian way of life at home is much more backward, rude, and savage one. He, thus, through his account tries to make a convincing call to the natives of his own country to take an appeal, inspiration and parameter from the learning, decency, and civility of the English civilization.

> It is my earnest request that my countrymen should give a patient and careful perusal to the volume, which will I hope, create not only a desire to visit the great and glorious land of commerce, learning and benevolence, **but more important desire of raising themselves and their country to the same level.** (Mulji, 1866, p. Preface)(Emphasis mine)

Karsandas Mulji's dropping of the surname from his name instantly gives one an idea of the amount of social pressures he faced against his decision to go on the tour abroad. Somehow, during this phase of time, in the Indian society, especially in Gujarat, there was a vague notion among the religious ethics and societal moral conducts that going abroad, more precisely crossing the sea was against the religious ethics and it held that it would ruin not only the person who trod the journey, but the wrath would also fall upon the entire caste and creed. In response to this the societal authorities stood staunchly against this kind of permission. Karsandas Mulji, being the man of progressive gait and having secured the favors of the British East India Company and her officials, clearly saw rootlessness and baseless in such religious belief and superstitious holding. He preferred to be set free from the shackles of the caste than to succumb to their pressures and refrain from his design. His mood of breaking free the social bans nicely resounds in the Hindi couplet he cites very underneath his name on the title Page and presents its translation on the English title page at the same place:

"સબી ભૂમ ગોપાળકી, વામેં અટક કહાં

જા કે મનમેં ખટક રહી, સોહી અટક રહા."

"THE EARTH IS GOD'S, WHERE CAN THE ATAK* LIE

THE COWARD SHRINKS, AND DARES NOT BURST THE TIE."

[*Note: ATAK is the name of the river which the religious belief forbids to cross]

Karsandas Mulji (1832 - 1871) published this travel account *'Englandma Pravas'* [*Travels in England*] in the year 1865. Before him Mahipatram Ruparam had published the same sort of account in 1864 under the title of '*England Ni Musafarinu Varnan'* [*Narrations of Travels in England*]. Mahipatram too had encountered the same kind of adamant aggressions and wrath of his own caste syndicate for deciding to go on this tour.

Karsandas had to face great hardships in the time following his abroad tours. When one is left alone by the entire mass of kinsmen, social seclusion appears very tough and painful. Still, in the spirit of a social reformer, he considers himself as the first-row soldier in the war for the motherland. His inner voice is thus expressed:

> Whatever people might quote about my travels, I have expressed what suited me proper and fine. Following these whatever hardships, I must face, I accept them with patience, but my mammoth contentment lies in the fact that I have undertaken a long and fantastic journey. And I feel that just as in the war to protect the nation, however huge the army might be, the soldiers of the first row must get killed or wounded, in all the reformative drives the forerunners must face certain pains. (Mulji, 1866) (Translation mine form Gujarati)

In response and support of this book, Mahipatram Rupram presents a nice review of it in his pithy and condensed style in the biography of Karsandas Mulji under the title '*Uttam Kapol: Biography of Karsandas Mulji*':

> Every chapter of this travelogue is infused with entertaining and moral values. Its intelligent author has made it replete with interesting and learning spirits. Still, I consider the 9th and the 10th chapters more valuable and suggest the readers to go through them very precisely. It is advisable to discern good stuff out of it and to adore the true values thereby. If any reader would question its reason, **I would answer that for the progress and advancement of our nation it is necessary. The qualities that have taken the English people to the path of advancement and taken them high on the hierarchy; the qualities that have won them the favors of the Goddess Lakshmi; the qualities that have made the English people superior in all measures of culture and politics, Karsandas has attempted to enumerate them all. The people of our nation should identify and adopt these qualities.** (Rupram, Uttam Kapol:Karsandas Mulji Jivan charitra, 1877) (Translation mine form Gujarati)

As pointed out by Mahipatram, Karsandas has given a detailed note on the various aspects of English character and temperament in chapters 9th and 10th. Going through them one finds that the analysis and enumeration is noteworthy and done from a close study as well as with the clear intention of drawing contrast with the character that of the Indian people. Secondly there always runs a projected advice or reformative note in the direction that the Indian should shun this or should adopt that and should take a molding lesson from the advanced English people and their ways of life. See, how his note expresses that the Indian should grasp the spirit of travels from the English:

> Oh! How poor our natives are in the spirit of love of travel? I assert that until our natives do not come out to visit the developed nations, our prosperity will not be a reality. I wonder when the Rich people of our country will nurture the hobby of traveling. In that, until when the Hindu Rich will, by being afraid of the bars and bans of their caste, keep themselves hidden in the corners of their houses? We should pay heed to this matter. (Mulji, 1866, p. 170) (Translation mine form Gujarati)

Karsandas Mulji's travelogue serves as a strong and authentic social document. It does not just remain an informative text on his observations and reflections of the British way of life, but it also presents his individual preferences of character building. This is why J. Barton Scott rightly observes in his article *Translated Liberties* that this text serves as "four different genres of writing that impinge on *Travels in England*: the travelogue, the political tract, the ethnographic gazetteer, and the self-improvement manual. Along the way, there is a substantial excursus on the concept of character in the Victorian period." (Scott, 2017)

Another important point is Karsandas' feeling of amazement and curiosity. Sometimes he feels so enamored and amazed that he finds the words incapable of expression. He feels that the civilization has found its optimal limits here in the English Empire. His feelings of wonderment overflow in the initial account of public life, infrastructure, and the measure of commercial activities. All the time he never recedes from making the reader realize that all this is the result of success of this civilization. "In the eye of Karsandas the British Rule and society is ideally worthy of being followed in Toto, and so his book *Travels in England* is a picture of a New World –the golden Victorian Era of the reign of Queen Victoria drawn with the feelings of wonderment." (Raval, 2001) |In narrating the streets of London and Paris, he feels greatly impressed and wants allow glimpses of these sights to his native fellow at home. He goes to the extent that the scripture writers' description of divine cities in the scriptures appears dull and poor before the real glories of these Western City complexes. His comments regarding the London Museum and 'the Flower Show' are the illustrations of this.

Just as a travel narrator, Karsandas too keeps on maintaining a comparative gaze intensified by his devotional gratitude towards the British people and culture. His stance of comparison takes sometimes the form of just comparison of two nations and cultures, sometimes of the opportunities but mostly remains didactical his native people should derive inspiration from. His visions capture the way of their lives, customs, and conventions. He also talks about their individual habits and personal etiquette. And every time such an observation comes, there is a direct comparison with the Indian character with his judgmental assertion as to why the Indians are so or what should they learn from this advanced culture. In such observations, he maintains that the Indian character is somewhat lazy and less gleeful as compared to the British is the climatic differences of both nations. Even for the lack of national integrity and national pride, the British excel because of their unison of culture and language, whereas in India there are different languages, cultural diversity and regional difference in all walks of life, and this clearly results in weaker integrity and poor national pride.

In the opening paragraph of the 9th chapter, Karsandas emphasizes the high esteemed values in the English character and accepts that only because of theses cultural, ethnical, personal and philanthropic values the small Island nation like England has excelled and emerged as the powerful and stalwart nation and has succeeded in getting curb over comparatively wide and large nation like India. He also points out his intention that I have been taking pain to present this analysis of the English Character in order to make my fellow Indians aware of them and thereby take a constructive cue from them.

The first quality of the English character that appeals to Karsandas is their industrious nature and the spirit of entrepreneurship. *"The spirit of entrepreneurship,"* he notes*, "has been percolated from the rich to the poor too. Wherever you see, your sight would capture the infrastructures of industry. What our people say that the English people have got the guts to make money is not wrong."* And *"**the most apparent contrast between the English system and the Indian one is that our craftsmen are not professionally committed. They would never deliver the things or services at the promised time and would delay the delivery of the things to the customer without any apparent reason."*** (Mulji, 1866, p. 224) (Emphasis mine) (Translation mine form Gujarati)

Further he notes that the English are intellectual along with being industrious. This quality helps them excel in many fields. And they receive training for this right from their childhood, whereas our countrymen lack this swiftness and shrewdness of the English character. "*Our people are",* according to him*, "lazy and procrastinating".* He defines the reason for this as*:*

(1) Lack of enthusiasm

(2) Lack of swiftness and shrewdness

(3) Lack of professional skills

(4) The scorching environment that exhausts the workers."

Next quality he considers worth consideration is that of their capacity and capability of task management. They finely distribute the work, and this work distribution accelerates the work efficiencies and on the production line. We are falling behind industrial professionalism because here one artisan or the craftsman handles all the operative jobs single handedly and gets tired in the meantime.

Next thing he notes is the tenaciousness of the English character. He maintains that these people would work with patience sometimes without caring for instant acknowledgements or returns. They would persistently work for the project taken on hand and this quality has helped them in many fields. Exactly opposite to it, he comments, our people would only work with instant goals, and lack the patience and persistence for long term goals.

"In the matters of enthusiasm and exuberance", writes Karsandas, *"no people can exceed the English people. In all walks of life, the English exhibit great enthusiasm and exuberance."* (Mulji,

1866, p. 229) Slyly indicating the case of India, he notes: how can a nation ride the waves of great spirits of success whose people do not have the spirits of enthusiasm? The same is the case with the spirits of daring, bravery and energy. He notes the cases of the English men like Livingston who heroically penetrated the wilds of South Africa and many like him who by undertaking painstaking and daring tasks raised the head of British Empire high. And in the next sentence accepts that the Indian character entirely lacks this kind of spirits who always prefers the prospects of immediate recompense or results.

Another impressive quality Karsandas enumerates of the English character is their spirit and love for independence. He gives the instance of their love of independence by their capacity to fight to any enemy of any caliber for the sake of independence and national spirit. They would never hesitate even to risk their own life in order to safeguard their liberty and independence. He goes on:

> They not just think independently, they behave too. If I do this or if I work in this way and that will make people think bad of me, with this kind of fear they never get tamed. If once in their intellect they decide to take any task on hand, they would act upon it, no power can prevent them from doing it. They do hesitate to break what falls in the category of etiquette, but when it comes to act for nation's welfare, they never recede to take any measure, whatever outcome it might bear. (Mulji, 1866, p. 234) (Translation from Guajarati mine)

Another merit of the English people that impresses Karsandas is their philanthropic temperament. He praises their earnestness and commitment in extending help to the needy and deserving. He bluntly criticizes the way the philanthropy is held in our India:

> To cheat the poor human being and to loot him financially and from that resources grant the asylum for old and unserviceable animals and offer feasts of '*laddu*s' of pure ghee and jaggary to the Brahmins; please don't consider this to be an act of philanthropy.
>
> But it lies in extending support and help to another human being. To help those who are in pain, to provide safety, shelter and food to the orphan children and widows. (Mulji, 1866, p. 235) (Translation from Guajarati mine)

In matters of religion too, the English people donate free handedly and remain eager to help those who require help and support. And this kind of approach helps the weaker sections of society grow and develop into education and skills and the end result eliminates weaknesses from society.

Business is another zeal of these people, notes Karsandas Mulji. In the development of trade and industry, the British people excel all the people of the world. During his journey among the British Islands, Karasandas Notes, industry has got spread from small to the larger scales. There are separate industrial complexes. And all this is possible due to the industrious and spirits of hard work of these people. Karsandas notes the most prestigious or ordinary, rich or poor, politician or official, employer or employee— in every one of them you will find a common trait of hard-working nature.

In the spirit of Entrepreneurship, they are number one. It is not that the poor and the middle class only work hard, but those who enjoy riches in one or another form too work resiliently. For the common belief among them is: "*One can have riches or Social title through heritage, but knowledge and wisdom are to be obtained through personal individual efforts only*." (Mulji, 1866, p. 225)

Another noteworthy point in the English Character, Karsandas finds, is the system of work distribution. The key to their success lies in this ability of work distribution. We, in India, do not hire many persons; instead make some limited number of persons perform many kinds of tasks. In doing so we feel we are saving much of our expenses. But we fail to investigate the possibilities that if a person is trusted with one particular job, he would be able to do it more neatly and effectively. Thus, it would increase overall productivity. The British have understood this well, and thus by work distribution, they are leading in all aspects of the realm of economics. Whereas, Karsandas observes, in India, one artisan

would work on various jobs, thus loses his interest, and gets lazy, and remains limited in his productions.

The spirit of adventure, according to Karsandas, should be taken as the signature trait of the British character. He mentions many adventurous tasks undertaken by the English personalities; like that of Livingstone who penetrated the wilds of the South Africa to civilize the locales or many more like him who came forward to find out new sea routes. He wonders when such heroism will spring up in the Indian character.

From the close study of Karsandas Mulji's account of the tour to England, one most important thing that comes to our notice is his gratitude towards the English people and Culture as well. He stands as the mouthpiece of those liberals of India who took the British rule as a great blessing on India and had the notions that being tagged with the greater empire like Britain, India and the Indian people too will achieve excellence with their benevolent approaches towards India. Karsandas is not just one but there were many of his bents. They felt that the just and equal treatment of the British Rule will slowly but surely eradicate all the vices prevalent in the Indian society and will take the nation on the path of cultural, political, academic, and economic prosperity. Their idealized notions of this culture made them crave to see them live their lives from very close quarters, and these motives remained at the very roots of undertaking the difficult and costly tour to English Islands. Not only this, but they also wanted their fellow National citizens to learn and derive inspirations from such a great and grand English Society, and the attempts to make them a part of what they really experienced at England is the publication of these travelogues. The motives that the Indians must learn a lesson from the scientific advancements of the European nations peep in all their endeavors. For them, a healthy, equal and wealthy society was more important than political freedom. They firmly believed that if Indian society has to be freed from the cruel, illogical, superstitious authorities of castes, creeds and taboos like untouchability and religious superstitious bindings, the British Constitutional Rule was the only strong alternative.

The same social reformative motives are reflected in almost all the travelogues of this time including Behramji Malbari, T.B. Pandian, Mahipatram Ruparam, etc. There were strong likings and favors for the English way of life and at the same time there was an undercurrent of desires that these things may get percolated to the Indian way of life in general and in the Indian Character in particular.

> "Nineteenth-century Indian liberals", as C. A. Bayly observed, though they were initiating a new code for living one's life, a new way of being human. Like their British counterparts, they sought to free themselves from constraints of custom, tradition, and local particularity in order to institute a new form of radically autonomous human subjectivity. In doing so, however, these Indian liberals were confronted with liberalism's own stubborn particularity. Rather than somehow standing above culture, liberalism appeared in India as paradigmatically English. Indian thinkers, consequently, sought to indigenize liberalism by refracting it through Indic traditions. They also, along the way, threw the contours of the Victorian liberal self into especially sharp relief. (Bayly, 2011)

As Mulji explains in the introduction, "Present is the time of reform and freedom" (*h¯alno vakht sudhar¯ai ane svatantrat¯ano che*). "It is for the sake of freedom that war has been going on in America for four years. In Europe, how many wars have happened for the sake of freedom! For the sake of freedom, people are willing to throw down their lives." India, he insists, should learn to live in its "era" (*jam¯ana*) by accepting the "necessity of becoming free" (*svatantra*). With this temporal framing, Mulji situates his travelogue within the broader currents of global liberalism and its historical meta-narratives. (Scott, 2017) Karsandas Mulji's reformative stance is apparent from the very initiation of this travel. His travels, he wants to prove, should inspire the minds of the native Indians, and fire their imaginations to take instance of the British character and culture.

> It is my earnest request that my countrymen should give a patient and careful perusal to the volume, which will I hope, create not only a desire to visit the great and glorious land of commerce, learning and benevolence, **but more important desire of raising themselves and their country to the same level.** (Mulji, 1866, p. Preface)(Emphasis mine)

For Karsandas Mulji liberty and independence bear the connection not with the political regime but his focus remains concentrated over the caste hegemony and other rigid conventions which had taken a strangle hold of society. J. Barton Scott in his elaborate research article *Translated Liberties* nicely presents the case:

> In *Travels in England*, the notion of the public recedes into the background. Instead, liberty becomes the paramount English virtue that Indians should emulate. The English, Mulji tells us, have such zeal for freedom that they risk their lives and leave loved ones behind to battle against tyrannical kings. They are "known throughout the world for their liberty" and "contempt for the state of slavery." India, by contrast, is sorely lacking in these qualities. Not only did it submit to the tyrannical "foreign rule" (partantrapan. um. , i.e. dependence or heteronomy) of Muslim kings, but it still submits to the injustices of caste. Mulji sees English education—**the Macaulayan system of which he was himself a product—as the solution to this problem. It will disseminate the "genuine idea of English liberty" until every householder rejects the "slavery" of caste**. Once "this kind of zeal for liberty comes to our countrymen," he writes, **India will "break the tyranny of caste and open the door of reform."** (Scott, 2017)

References :-

1. Bayly, C. A. (2011). *Recovering Liberties: Indian Thoughts in the Age of Liberalism and Empire.* Cambridge.
2. Malbari, B. (1882). *Gujarat and Gujarati: Pictures of man and manners from life.* London: W. H. Allen.
3. Mulji, K. (1866). *Englandma Pravas (Travels in England).* Mumbai: Union Press.
4. Parikh, S. K. (2013). *Marching to A Different Beat.* Ahmedabad: Akshara Prakashan.
5. Raval, B. P. (2001). *Preface to 'Inglendma Pravas' by Karsandas Mulji.* Gamdhinagar: Gujarat sahitya Akadami.
6. Ruparam, M. (1862). *Englandni Musafarinu Varnan.* (B. Patel, Ed.) Gandhinagar: Gujarat Sahitya Akadami .
7. Rupram, M. (1877). *Uttam Kapol:Karsandas Mulji Jivan charitra.* Ahmedabad: Ranchhoddas Gangaram.
8. Scott, J. (2017). Translated Liberties: Karsandas Mulji's Travels in England and the Anthropology of the Victorian Self. *Modern Intellectual History, CUP* , 1 to 31.

Yoga and Health : A Review

Dr. Avijit Mandal*

Abstract :- Yoga is a 'way of life' and goes beyond the physical fitness or posture. Yoga in Indian traditions is more than physical exercise and has a meditative and spiritual core. Yoga makes our physical and spiritual life smooth. Medical researchers also approve the interrelated factor that when the physical body is in good health, the mind functions properly and tension is in controlled state. The breathing exercise performed in practicing yoga is a solution for stress and anxiety. Yoga shows us different ways of maintaining physical and mental health. In my research paper, I want to show that the importance of yoga for physical and mental health and relevance in the modern times.

Keywords :- Yoga, Modern life, Spiritual health, Physical health, Mental health.

Introduction :- This whole universe is the limitless embodiment of infinite number of mysteries. But never any incongruity takes place in its course because it has a definite rule since its creation that is never deviated. But many of the human being has lack of knowledge of proper method of life. Every individual soul living inside every human being, possesses endless and innumerable power i.e 'Shakti' which can place him in the pick of success.

Yoga in Indian traditions is more than physical exercise and has a meditative and spiritual core. Yoga derived literally from the Sanskrit root "Yuj" means to add, to join, to attach or to unite is considered as any "practices" that helps facilitate a union between Self (Jivatma) and the Divine (Paramatma).As a complete exercise programme and physical therapy routine, the physical postures of yoga are used to alleviate health problems, reduce stress and make the spine supple in contemporary times beside the spiritual goals. There is no denial of the fact that now- a -days development of science and technology has simplified our life a lot, but due to lack of proper rest, fast food habit, negative effect of environment and work style human being is suffering both mentally and physically. Though the modern life gives us more comfort, but rivets more things. Due to modern life style we are suffering from stress both physically and mentally and facing various fatal diseases.

Yoga is more relevant in modern stressful life. Yoga is a way of life. It is only way through which the body will be fit and fine without any trainer, without equipment and medicine. Swami Vivekananda proclaimed "Each soul is potentially divine". Do this either work or worship. The practice of yoga asanas and meditation provides natural support to the immune system. So, yoga is more relevant in our daily life.

Yoga for Health and Well-being :- Yoga is an ancient and comprehensive form of spiritual self discovery. Yoga exercises have a holistic effect and bring body, mind and conscious and soul into balance. Many years ago the sages of India were trying to unravel the cosmic mysteries through their meditation. They were trying to reconcile the worldly objects with the spiritual consciousness. As a result, they came to know the cosmic laws and natural laws. It is true that the effects of worldly powers and great cosmic powers are described and explained in the Vedas. Much of this knowledge have been discovered and confirmed by modern science. It is undeniable

---

*** Assistant Professor, Department of Sanskrit, Vivekananda College for Women, Barisha, Kolkata-700008.**

that yoga has many benefits. Regular practice of yoga keeps the body and mind healthy. Yoga practice keeps our mind cheerful and body healthy. There is no alternative to yoga to keep the body healthy. Therefore, regular yoga practice is necessary.

Yoga teaches us the knowledge of how to lead a healthy living. It improves our concentration, creativity and sharpens our memory. In addition, yoga improves our muscle strength, stamina and brings immune and mental stability. Therefore, practice of yoga is significant in controlling health problems. Yoga is holistic which provides physical, mental, social and spiritual benefits. It helps to manage stress and anxiety and keeps mind relax. Regular practice of yoga can help lose weight, relieve stress, improve immunity and maintain a healthy life style.

Modern age is of science and technology. Then yoga refers to the science of health, happiness and harmony. Yoga has been much popular in modern times as the science and art of holistic living. People are attracting towards yoga as a holistic care system. Holistic approach of healthcare includes:-

1. Preventive health
2. Promotive health
3. Curative health.

Impact of Yoga in daily life :- Yoga is a way of living that aims towards a healthy mind in a healthy body. Yoga reduces stress and tension in the physical body by activating the parasympathetic nervous system. Yoga promotes a balanced and integrated personality. Practice of yoga develops a whole human system. Yoga has succeeded as an alternative form a therapy for the diseases like Asthma, blood pressure, arthritis, digestive disorders and other ailments of chrome and constitutional nature.

Yoga is very useful in present times. Our country is now developing in the I.T. field and education structure is developing in a faster way. In the I.T. field person's brain is used heavily for hours due to which the mental stress increases and back pain also increases. Therefore, such reasons for immediate relief they go for tablets and have side effects which will bring them to the level of cancer also. Modern children have different challenges compared to previous generation. They are prone to spending a considerable amount of time in front of T.V or computer, listening to their I-pods or playing video game and as a result, they spend less time on physical activity. They suffer from insomnias, eating disorder, ADHD (Attention Deficit Hyper activity Disorder) and sometimes aggression. But yoga can solve or help all the problems seen present stage.

Yoga is most effective in controlling both stress and functional disorder. Practice of yoga develops a whole human system. Yogic asanas, mudras and pranayamas are the best means of serving the body and mind. They are good for relaxation of mind. A person's mental and physical health depends on brain and body chemicals. Yogic practice gives direct and tangible benefit to everyone. Yoga has succeeded as an alternative form of therapy, diseases such as like Asthma, blood pressure, Arthritis, digestive disorders and other ailments of chrome and constitutional nature.

In the modern world environment, people have to struggle in various ways to survive. Currently, people are under more and more physical and mental stress due to complex life style. Yoga is the way through which we can solve some of these problems. Yoga helps to live in harmony with our environment; it helps us to give recognition for ourselves, the natural environment we are living and help us to peaceful interact with the society to which we belong. In maintaining the physical health it is essential to balance our diet. Yoga teaches as an ethical

principle we have to be selective of the food we eat and focus on vegetable and we have to avoid meat, alcohol, drugs and nicotine. Yoga is most relevant in modern era.

Yogic exercises recharge the body with cosmic energy and facilitates :-

1. Attainment of perfect equilibrium and harmony
2. Promotes self healing
3. Enhances personal power
4. Yoga to live with greater awareness
5. Helps in attention, focus and concentration
6. Yoga for better relationships

Yoga has many benefits. Here are the top five benefits of yoga:-

1. Relieves stress and depression
2. Improved posture and flexibility
3. Toning
4. Improved sleep
5. Better body image

Finally it can be said that yoga practice is essential for human race to get rid of any diseases. Yoga is the only life-giving medicine for body and mind. Therefore, we should do this for better and healthy living.

Conclusion :- The practice yoga helps in controlling an individual's mind, body and soul. It improves respiration, energy and vitality. The modern life style is complex and filled with tension. As a result, people in urban areas are busy with work schedules to fulfil what life demands survival. This life style brought stress to the individuals which leads to different types of diseases. Today yoga thoroughly globalized phenomenon; yoga has taken the world by storm and is gaining popularity day by day. In short, yoga suggests a number of ways to achieve a calm peaceful mind. Yoga is holistic which provide physical, psychological, social and spiritual benefits. So we need habit to bring yoga to our day- to -day life. Therefore, we should do this better and healthy living.

References :-

1. Adhia, H.,Nagendra, H.R. & Mahadevan,B. (2010).*Impact of Adoption of Yoga : Way of Life on the Emotional Intelligence of Managers*, IIMB Management Review, 22(1-2), 32-4.
2. Bhavani, A.B. (2011).*Understanding the Science of Yoga*, Int.Yoga Scientific. J.SENSE,1,334-344.
3. Baria, Farah(2000).*Cures from the Past*, India Today.
4. Eliade, M.(2009).*Yoga: Immortality and Freedom*, Princeton University Press
5. Tessema,T.A.(2017).*Significance of Yoga in Modern Life*, Significance, 2(5).
6. Yadav, S.K., Kumar, A., Kumar, V. &Kumar, A.(2015). *Importance of Yoga in Daily Life*, Research Gate, DOI,10.
7. Satipati,Vidyabhusan.(1347).*Yog O Sadhana*, Sulbhala Library: Kolkata
8. Yogindra,Svatmaram.(1933).*Hatha Yoga Pradipika*, Theosophical Publishing House: Madras.
9. White,David Gordon(2011).*Yoga: Brief History of an Idea*, Princeton University Press.

लो, एक और आलोचक चला सफेद चादर ओढ़कर

डॉ. सुनील कुमार मानस*

हिंदी के वयोवृद्ध साहित्यकार और सौंदर्यशास्त्री **प्रो. रमेश कुंतल मेघ** का 1 सितम्बर, 2023, दिन शुक्रवार को निधन हो गया। मेघजी का अलविदा हो जाना– साहित्यिक–आलोचक की एक बहुत बड़ी छति है, जिसकी पूर्ति कभी भी नहीं की जा सकती है। 93 वर्षीय प्रो. मेघ अब चंडीगढ़ सेक्टर–16 स्थित अपनी पुत्री शिप्राली के घर रह रहे थे। यहीं उन्होंने अंतिम सांस ली। मेघजी प्रो. शिवप्रसाद मिश्र के चचेरे छोटे भाई हैं। जैसा कि शिवप्रसाद मिश्र एक बड़े प्रगतिशील आलोचक के रूप में अपनी महनीय पहचान बनाई है उसी रूप में रमेश कुंतल ने भी अपनी पहचान आलोचना में उपलब्ध कराई है।

मेघ का जन्म खांटी बुंदेलखंड के एक छोटे से शहर सागर–ताल के आंचलिक सांस्कृतिक सुवास में 18 फरवरी, 1930 को हुआ था। 1931 शायद उनका प्रमाणपत्रीय सन् रहा होगा।... मेघजी ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज से भौतिक विज्ञान, गणित और रसायन शास्त्र में बी.एस.सी. करने के बाद काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में हिंदी विषय में पीएचडी की उपाधि प्राप्त की थी। जब भी साहित्यिक विचार–विमर्श होता वे अपने गुरु के बारे में बताते कि 'हमारे गुरु का कद बहुत ऊंचा था जिनके सामने हम बिलकुल छोटे–छोटे जंगली फूलों की तरह थे, उन्होंने हमें हरसिंगार में तब्दील कर दिया।' डॉ. मेघ बताते थे कि उनका पीएचडी का वायवा महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने लिया। उन्होंने पूछा, 'कि नौजवान जीवन में क्या करना चाहते हो?' मैंने कहा, 'मैं मध्यम वर्ग से आता हूँ और नौकरी ही करना चाहता हूँ।' उन्होंने फिर पूछा, 'लिखने–पढ़ने के बारे में क्या विचार है?' तो मैंने कहा कि कविताएँ, कहानियाँ लिख लेता हूँ। महापंडित ने कहा कि नौजवान तुम्हारे अंदर विलक्षण प्रतिभा है, तुम कविता कहानी छोड़कर आलोचना के क्षेत्र में आगे बढ़ो! मेघ जी ने उन्हें प्रणाम करके– आदेश शिरोधार्य कर लिया और कविता–कहानी लिखना बन्द कर दिया।

आप प्रगतिवादी आलोचना की धारा के सहयात्री बने, साथ ही मेघजी ने आलोचना में अंतरानुशासन को विशेष महत्व दिया है। आधुनिकता, सौंदर्यशास्त्र और समाजशास्त्र उनके अध्ययन के प्रमुख क्षेत्र हैं। अपने आलोचनात्मक कर्म की शुरुआत 'जयशंकर प्रसाद और उनकी कामायनी' से की। उन्होंने ने मध्यकालीन साहित्य के सौंदर्यशास्त्रीय विश्लेषण पर विशेष ध्यान दिया। 'सौंदर्य दृष्टि' और 'सामाजिक भूमिका' उनकी आलोचना के बीज–शब्द हैं, और केन्द्रीय शब्द भी। मेघजी के अध्ययन–अध्यापन का कार्यक्षेत्र आरा (पटना) से अरकंसास (पाइन ब्लफ) तक फैला रहा। वे रीडर–इंचार्ज हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, पूर्व प्रोफेसर व अध्यक्ष हिंदी विभाग, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय और अमेरिका की अरकंसास विश्वविद्यालय, पाइन ब्लफ (यू.एस.ए) में फुल ब्राइट प्रोफेसर रहे हैं। वह कला समीक्षक, आलोचिन्तक, सौन्दर्यशास्त्री, मिथक व्याख्याता, दार्शनिक, इतिहास अन्वेषक थे। प्रो. मेघ जनवादी लेखक संघ के संस्थापक सदस्यों में से एक थे।

अपने सतत सघन संधान, अंतरानुशासनात्मक अध्ययन, मिथक और मिथक–आलेखन तथा सौंदर्यशास्त्र जैसे विशिष्ट क्षेत्रों के चिन्तन–मनन लेखन में डॉ. मेघ हिंदी साहित्य के शिखर पर अकेले ही– खड़े दिखाई देते हैं। उनका आलोचना, कला सौंदर्यशास्त्र और मिथक सम्बन्धी चिन्तन भारत तक ही सीमित नहीं अपितु विश्व की अनेक पुरातन सभ्यताओं से ताल्लुक रखता है। इस विश्वव्यापी सफर में डॉ. मेघ हिंदी के ऐसे विरले साहित्य साधक हैं, जो ज्ञान–कुंडलियों को साधने, प्रागैतिहासिक (प्री–हिस्ट्री) की बीहड़ सभ्यताओं का इतिहास खोजने एक 'नोमड एक्सप्लोरर' की भांति निकल पड़े। अपनी पुस्तक विश्व मिथक सरित्सागर, मानवदेह और देह भाषायें को वे अपने दो हंसगान कहते रहे हैं। एक अंतिम और तीसरा हंसगान रोबर्ट प्राउस्ट पर लिखने की उनकी तमन्ना थी, जिसका जिक्र उन्होंने कई बार किया और मदद करने की इच्छा जाहिर की थी। सारी संदर्भ सामग्री एकत्रित करके एक जगह रखवा भी दी गई थी, परन्तु उम्र का दबाव कुछ अधिक हो गया था। मेघजी की प्रमुख कृतियों 'मिथक और स्वप्न : कामायनी की मनससौंदर्य सामाजिक भूमिका'(१६६७), तुलसी : आधुनिक वातायन से

***अध्यक्ष–हिन्दी विभाग, सरकारी विनयन कॉलेज, बेचराजी (गुजरात)।**

(१९६७), आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण (१९६९), मध्ययुगीन रस दर्शन और समकालीन सौन्दर्य बोध, क्योंकि समय एक शब्द है (१९७५), कला शास्त्र और मध्ययुगीन भाषिकी क्रांतियाँ, सौन्दर्य–मूल्य और मूल्यांकन, अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा (१९७७), साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक (१९८०), मन खंजन किनके? (१९८५), खिड़कियों पर आकाशदीप– हैं।

हिंदी साहित्य में उल्लेखनीय योगदान के लिए हरियाणा साहित्य अकादमी ने उन्हें वर्ष 2014 का पंडित माधव प्रसाद मिश्र सम्मान प्रदान किया है। वह उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा साहित्य भूषण और डॉ. लोहिया साहित्य सम्मान से भी पुरस्कृत हैं। वर्ष 2017 में उनकी पुस्तक विश्व मिथक सरितसागर के लिए उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार से अलंकृत किया गया है। 'विश्व मिथक सरित्सागर' नामक प्रथम हंसगान के सहवर्तन में 'मानवदेह और हमारी देहभाषाएं' नामक दूसरा ग्रन्थ वर्ष 2015 में प्रकाशित हुआ था। रमेश कुंतल मेघ को 2017 में उनकी साहित्यिक समालोचना विश्व मिथक सरित सागर के लिए हिंदी का साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किया गया। इसके अलावा उनको राष्ट्रीय–अंतरराष्ट्रीय स्तर पर कई पुरस्कार प्राप्त हुए।

उनके कुछ प्रियजनों की दी हुई श्रद्धांजलियाँ

(1)

अफ़सोस! डॉ. रमेश कुंतल मेघ भी गये। मेघ जी अत्यंत जटिल विचारक और बालसुलभ सरलता के धनी मनुष्य एक साथ थे।

यहाँ मेघ जी के अलावा एक चित्र और है। वह मेरी पुस्तक 'प्रगतिशील कविता के सौंदर्य–मूल्य' का कवर पृष्ठ है। वाणी से जब इसका दूसरा संस्करण आने वाला था तब अरुण माहेश्वरी से उन्होंने कहा कि वे ही इसका कवर डिज़ाइन करेंगे। यह उनका काम है। पुस्तक आने पर मुझे बाद में मिली, उनका फोन सुबह–सुबह पहले आया कि रात तीन बजे से सुबह होने का इंतज़ार कर रहा हूँ! कारण, पुस्तक उन्हें इतनी दिलचस्प लगी कि शाम को मिली तो वे पढ़ने लगे, पूरी करके ही लेटे– इस उम्र में भी पढ़ने के लिए इतनी लगन उनके जैसे विद्वान में ही हो सकती है। साथ ही इतना सहज बड़प्पन भी उन जैसे मनुष्य में ही सम्भव है कि अपने छोटों को इस हद तक महत्व दें! मुझे ही नहीं, हिंदी के सभी पाठकों और प्रेमियों को मालूम है कि वे सौंदर्यशास्त्र और दर्शन के गहन अध्येता थे। एक ही बात थी कि साहित्य, दर्शन, इतिहास, मनोविज्ञान आदि विभिन्न अनुशासनों की सामग्री को मिलाकर जब वे सोचते थे तो उनके विचार–सूत्र बहुत उलझ जाते थे। इसलिए उनके लेखन को पढ़ना अत्यंत कठिन था, उसे समझना और भी कठिन था। प्रदीप सक्सेना उन पर लेखों का संग्रह निकाल रहे थे, मुझे 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा' पर लिखना था। महीने भर से ज़्यादा समय में केवल आधी पुस्तक पढ़ी गयी। नोट्स रखे हैं। लिख नहीं पाया। इस आदत पर पछताया भी कि पूरा पढ़े बिना नहीं लिखता।

मेघ जी के बहाने अपनी बात नहीं कर रहा हूँ। उनके साथ कि कितनी बातें उमड़–घुमड़ रही हैं, कह नहीं सकता। लखनऊ में चालीस साल पहले रामचंद्र शुक्ल की जन्मशती के कार्यक्रम में पहली बार भेंट हुई थी। उनके अनुज शिवकुमार मिश्र ने कहा कि मेघ जी और तुम आपस में बातचीत करके यहाँ अपनी नीति तय करना! तब प्रगतिशील और जनवादी लेखक साहित्य को इतनी गम्भीरता से लेते थे कि उसमें किसी ने ग़लत 'लाइन' ले ली तो बहुत बड़ा नुकसान हो जायेगा!

मेघ जी जनवादी लेखक संघ के संस्थापक सदस्यों में थे। स्थापना सम्मेलन में दिल्ली में उनसे बस मुलाकात हुई थी। आत्मीयता निरन्तर साथ काम करने से विकसित हुई। मेघ जी को पता रहा होगा कि उनका लेखन जटिल है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक बार कहा था कि मेघ जी के लिखे का हिन्दी अनुवाद कर दिया जाता तो उसकी उपयोगिता बढ़ जाती! वे इस मज़ाक़ से भी परिचित थे। कभी अपने में रहते तो खूब मज़ाक़ करते।

दिल्ली विश्वविद्यालय के दक्षिण परिसर में एक पुनश्चर्या पाठ्यक्रम में मेघ जी को बुलाया था। हिंदी के नवजागरण पर बात के क्रम में उन्होंने अपनी अमरीका यात्रा के कुछ अनुभव बताये। उनमें एकाध प्रसङ्ग थोड़ा 'बोल्ड' थे। लेकिन वे इतने निष्कुन्ठ थे कि सामान्य रूप में उसी धरातल पर बात कहते गए जिस धरातल पर पुस्तकीय जानकारियाँ।

मेघ जी चंडीगढ़ से अवकाश पाने के बाद लखनऊ रहे लेकिन उनके अपने उत्तर प्रदेश ने शायद वह स्वीकृति नहीं प्रदर्शित की। फिर वे वापस पंजाब चले गए। पंचकूला उन्हें ज़्यादा रास आया। पंजाब की मस्ती में वे अधिकांश जीवन रह आये थे। वहीं उन्होंने अंतिम साँस ली। हम उत्तर प्रदेश के लोग जानते हैं कि एक खास तरह की संकीर्णता और अहम्मन्यता यूपी वालों के स्वभाव में है। हम न दखिण भारतीयों को स्वीकार करते हैं क्योंकि 'मद्रासियों' की कंकड़–पत्थर वाली भाषा हमारे उपहास का विषय है, न हम उत्तरपूर्व के लोगों को स्वीकार कर पाते हैं क्योंकि 'चिंकियों' पर हम हँसते हैं! मेघ जी के लखनऊ से विदा होने से मालूम हुआ कि हम अपने ही आदमी को सहन नहीं कर पाते अगर वह कुछ समय बाहर कर वापस आया हो!

हिंदी प्रदेश के लोगों की यह संकीर्णता देश के लिए घातक है। मेघ जी अवध के थे। ठेठ कनौजिया। वे लखनऊ में नहीं रह सके। पंजाब अधिक उदार है। हजारी प्रसाद द्विवेदी पंजाब में रहे लेकिन बनारस ने उन्हें स्वीकार नहीं किया, मेघ जी वापस पंजाब चले गए, यह सोचने का विषय है।...अब तो मन ही बहुत कमज़ोर हो गया है। एक भी साथी का जाना उद्विग्न कर देता है।

मेघ जी, आपसे मिलने के लिए पंचकूला आने की अपूर्ण अभिलाषा के लिए क्षमा याचना करता हूँ!

हार्दिक नमन।

–प्रो. अजय तिवारी, दिल्ली से।

(2)

आलोचक डॉ. रमेश कुंतल मेघ

शत –शत नमन। विनम्र श्रद्धांजलि।

१ सितंबर २०२३। शुक्रवार। सुबह ७ बजे अपने चंडीगढ़ स्थित आवास पर अंतिम सांस ली आलोचक डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने। वे हिन्दी आलोचना के अद्वितीय, अनुपम आलोचक, चिंतक और मनीषी साहित्यकार थे। आचार्य पंडित हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के प्रिय शिष्य और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के विद्यार्थी डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने हिन्दी आलोचना में अपनी एक अलग पहचान बनाई है। वे गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर में हिन्दी के प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष रहे थे। वहाँ से सेवानिवृत्त होने के बाद उन्होंने लखनऊ के विकास नगर में स्थायी रूप से रहने के लिए मकान खरीदा था और उसमें वे अपनी पत्नी के साथ कुछ वर्ष रहे भी थे। यह सन् २००० के आसपास की बात है। उस दौरान बलरामपुर से मैं और इन्दु उनसे मिलने जाते थे। वे मूल निवासी कानपुर के ही थे और रिश्ते में मेरे गुरुदेव एवं शोध निर्देशक प्रोफ़ेसर शिवकुमार मिश्र के चचेरे भाई थे। सन् १९९१ में जब वल्लभविद्या नगर के सरदार पटेल विश्वविद्यालय में मैंने इप्टा आंदोलन पर अपनी थीसिस जमा की थी तो उसे जांच के लिए दो विषय विशेषज्ञों– कुलपति और सुविख्यात उत्तर छायावादी कवि प्रोफ़ेसर डॉ. शिवमंगल सिंह सुमन एवं सुविख्यात आलोचक प्रोफ़ेसर डॉ. रमेश कुंतल मेघ के पास भेजा गया था। इन दोनों में से रिपोर्ट आने के बाद पी–एच.डी. वायवा के लिए मेघ जी को विद्यानगर आना था, पर अचानक अमृतसर में ही वे स्कूटर से दुर्घटना के शिकार हो गए थे। बाद मे मेरा वायवा डॉ. शिवमंगल सिंह सुमन के उज्जैन स्थित बंगले पर हुआ था। मुझे मेरे गुरुदेव प्रोफ़ेसर शिवकुमार मिश्र वहाँ साथ लेकर गए थे। उस दौरान मैं एक रात के लिए उज्जैन में ही हिन्दी के अनन्य विद्वान प्रोफ़ेसर राममूर्ति त्रिपाठी के घर पर रूका था।

१९९७ में 'जलेस' का राष्ट्रीय सम्मेलन को कोलकाता में हुआ था तो वहां भी मेघ जी के साथ मेरी मुलाक़ात हुई थी। वे तब 'जलेस' के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष थे। मैं मेघ जी के साथ ही कोलकाता से ट्रेन से आरा तक आया था और वे लखनऊ तक गए थे। शायद पंजाब मेल से। मेघ जी से जब मैंने बताया था कि अब मैं बलरामपुर के एम. एल. के. पी.जी. कॉलेज में पढ़ा रहा हूं तो वे बहुत ही प्रसन्न हुए थे। उन्होंने कहा था कि वे सबसे पहले बलरामपुर में ही कालेज की नौकरी के लिए इन्टरव्यू देने गए थे और उनका चयन वहाँ नहीं हो पाया था। बाद में वे आरा में महाराजा कालेज में प्रवक्ता पद पर कार्यरत हुए थे। वहीं पर आलोचक प्रोफ़ेसर चंद्रभूषण तिवारी से उनकी मित्रता हुई थी। बाद में वे गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर में प्रोफ़ेसर होकर चले गए थे।

प्रोफ़ेसर रमेश कुंतल मेघ ने हिन्दी आलोचना को एक नया आसमान और नयी ऊंचाई प्रदान करने की कोशिश की है। उन्होंने हिन्दी आलोचना को एक सर्वथा नयी भाषा दी है। उनका मूल आलोचनात्मक लेखन सौन्दर्यशास्त्र और मिथक को लेकर रहा है। उन्होंने सौन्दर्य शास्त्र और मिथक की, भक्तिकालीन काव्य की

आधुनिक दृष्टि के साथ नूतन व्याख्या की है। 'साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक', 'तुलसी : आधुनिक वातायन से' और 'विश्व मिथक सरित्सागर' उनकी प्रमुख आलोचना की कृतियाँ हैं। उनको 'विश्व मिथक सरित्सागर' पर ही कुछ वर्ष पहले सन् २०१७ में 'साहित्य अकादमी' पुरस्कार दिया गया था। सन् १६३१ में कानपुर में पैदा हुए मेघ जी इन दिनों सेवानिवृत्त होकर चंडीगढ़ में ही साहित्य साधना में लगे हुए थे। वे ६२ वर्ष की आयु पूरी कर चुके थे। वे अपने जीवन के अंतिम पल एवं अंतिम सांस तक लिखते–पढ़ते रहे। वे हिन्दी साहित्य के एक अनन्य साधक थे। उनकी स्मृति को हमारा अंतिम प्रणाम।

– डॉ. चंद्रेश्वर, लखनऊ से।

(3)

मेघ जी, श्रद्धांजलि, "हम भोंदुओं की एक अछूत कतार भी बन गयी है।"

आलोचना को वे चिंतन की इतनी ऊंचाई तक ले जा सके, आलोचिंतना शब्द ही नहीं दिया, उसकी अथाह गहराई भी हिंदी के लिए प्रो. रमेश कुंतल मेघ की देन है।

कुछ दिन पहले ही उनकी बेटी से फोन पर उनके स्वास्थ्य की जानकारी ली थी और उनको प्रणाम किया था। उनकी स्मृतियों को नमन।

–डॉ. राजेंद्र रंजन चतुर्वेदी, पानीपत से।

(4)

डॉ. रमेश कुंतल मेघ के जाने से एक अपूरणीय अभाव उत्पन्न हुआ है। यह एक अपूरणीय क्षति है। 70 और 80 के दशक में अक्सर चंडीगढ़ जाना होता था। उनसे मिलना स्वयं को समृद्ध करना रहता। अनेक संगोष्ठियों में उनके साथ मंच भी साझा किया। जगमोहन चोपड़ा द्वारा आयोजित गोष्ठियों में दिल्ली, अंबाला, जालंधर और आसपास के रचनाधर्मी जुटते। अविस्मरणीय स्मृतियां हैं उनके साथ। व्यंग्य यात्रा परिवार की विनम्र श्रद्धांजलि।

–प्रो. प्रेम जनमेजय, दिल्ली से।

(5)

रमेश कुंतल मेघ जी का चला जाना! प्रथमतः चंद्रेश्वर जी के पोस्ट से ज्ञात हुआ कि कुंतल मेघ जी नहीं रहे। कोई व्यक्तिगत संबंध या उनके कृतित्व की विज्ञता मेरे पास नहीं, फिर भी है ऐसा कुछ अवश्य जो सन् ८०–८१(शायद्) की उस छोटी भेंट को भूलने नहीं देता।

पटना विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग द्वारा आयोजित 'आधुनिक हिंदी साहित्य और लोकचेतना' पर बहुदिवसीय परिसंवाद की एक ढलती दोपहर। केंद्रीय पुस्तकालय के प्रांगण की दूब पर शोभाकांत जी और गोपेश्वर सिंह जी के साथ मैं भी। बगल में रिक्सा रुका और उससे उतरते एक गौरवर्णी सुदीर्घ व्यक्तित्व ; गोपेश जी और शोभाकांत जी हाथ जोड़ खड़े हुए। मैं भी। वे इस तरह आकर साथ बैठ गये जैसे रोज के मिलने–जुलने वाले हों। शोभाकांत जी और गोपेश जी से खैरियत के साथ मेरा भी नाम–काम पूछा। बताने पर कि मुक्तिबोध की कविताओं पर शोध कर रहा हूँ उसी सहजता से पूछ बैठे "मुक्तिबोध की कविताओं पर अब क्या करोगे भाई ?" और मैं दंग। तब मैं मानता था कि मुक्तिबोध पर सही रूप मैं काम अभी हुआ ही नहीं है। शोध पूरा होकर भी जमा नहीं हुआ और आज वह धारणा और निखर आयी है कि मुक्तिबोध की कविताओं पर काम अभी हुआ ही नहीं है। मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का वैसा आग्रही और मुक्तिबोध के काव्य पर ऐसा विरामबोध? प्रश्न असामान्य था। आज भी लगता है कि यह प्रश्न स्वयं में शोध का विषय है। कैसे भूला जाय ?

नहीं भूलता 'वाद–विवाद–संवाद' का वह लेख भी जिसमें नामवर जी ने कुंतल मेघ जी के मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के प्रस्ताव की चुभती हुई खिल्ली उड़ाई है। मुक्तिबोध, नामवर सिंह और कुंतलमेघ का एक त्रिकोण बनता है, जो अपने बीच सौंदर्यशास्त्र का अतर्विरोध लिए मेरी चेतना में बैठ गया है। श्रद्धांजलि के पुष्पार्पण की औपचारिकता तो निभानी ही है उस रुकी कलम से जो हारने का नाम नहीं लेती।

– डॉ. बृजेश पाण्डेय, पटना से।

(6)

एक अपूरणीय क्षति ....

हिन्दी के प्रख्यात् शिक्षाविद्, आलोचक, साहित्यकार, चिंतक, विमर्शकार, सौंदर्यशास्त्री और अंतःअनुशासनिक विद्वान प्रो. रमेश–कुंतल–मेघ हम सबके बीच नहीं रहे। मिथक से लेकर आधुनिकता, आलोचना से लेकर सौंदर्यशास्त्र, तुलसी से लेकर कामायनी तथा कलाशास्त्र से लेकर समाजशास्त्र तक के विविध क्षेत्रों में पिछले पचास वर्षों से अधिक की कालावधि में किया गया उनका काम चकित करने वाला है। अपनी जटिल–बौद्धिकता के लिए जाने– जाने वाले प्रो. मेघ को समझना भी सबके बस की बात नहीं है।

कानपुर में सन् 1931 में जन्मे प्रो. रमेश कुंतल मेघ ने 92 वर्ष का सुदीर्घ जीवन पाया। उनका वास्तविक नाम रमेश–कुमार–मिश्र था और वह हिन्दी के जाने माने प्रगतिशील–जनवादी आलोचक प्रो. शिव–कुमार–मिश्र के भाई थे। बाद में वह रमेश कुंतल मेघ के नाम से जाने गए और उन्होंने अपना स्वतंत्र बौद्धिक एवं साहित्यिक व्यक्तित्व निर्मित किया।

हमारा सौभाग्य है कि लगभग दो दशक पूर्व लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा 'हिन्दी साहित्य : विविध विमर्श' विषय पर आयोजित पुनश्चर्या (Refresher) पाठ्यक्रम के एक सत्र में हमें उनके साथ मंच साझा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ, जहाँ वह मुख्य अतिथि और विषय विशेषज्ञ के रूप में आमंत्रित थे। उस समय की अनेक स्मृतियाँ मानस पटल पर आज भी अमिट हैं।

अदम्य प्रतिभा और बुद्धिवैभव के धनी प्रो. रमेश कुंतल मेघ विविध एवं अनूठे विषयों पर लिखे अपने विशालकाय प्रचुर ग्रंथों के लिए सदैव याद किए जाएंगे।

– प्रो. अनूप शुक्ल, फतेहपुर से।

(7)

प्रगतिवादी समीक्षा के स्तंभ प्रो. रमेश कुंतल मेघ जी आज हमसे विदा हो गए। उन्हें किस तरह याद करूं! मैं जब सन् 1994 में लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में स्नातकोत्तर द्वितीय वर्ष में आया, तो उस समय प्रथम वर्ष की टॉपर नीतू शर्मा से मेरा मात्र एक नंबर कम था और उम्मीदों तथा आशाओं का पहाड़ मेरे सिर पर सवार था। समझ में नहीं आ रहा था कि वैकल्पिक प्रश्नपत्रों में कौन सा प्रश्नपत्र चयनित करूँ। तत्कालीन विभागाध्यक्ष और मेरे होने वाले शोध निर्देशक प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित जी से पूछा तो उन्होंने बोला कि मेघ जी हिन्दी विभाग में सौंदर्यशास्त्र का प्रश्नपत्र पढ़ाने हेतु आ रहे हैं, तुम यही प्रश्नपत्र चयनित कर लो। मैंने वही किया और पूरे वर्ष मैंने आदरणीय मेघ जी की सौंदर्यशास्त्र की कक्षा पढ़ी। उनका पढ़ाना अद्भुत था। चूंकि वे विज्ञान पृष्ठभूमि के थे और मैं भी विज्ञान से हिन्दी में आया था, इसलिए मुझे उनका सूत्र रूप में, चित्र या ग्राफिक रूप में पढ़ाना बहुत अच्छा लगता था। पी–एच. डी. के लिए भी पूज्य दीक्षित जी ने सौंदर्यशास्त्र ही मेरे लिए चुना और मुझे आदेशित किया कि मैं शोध हेतु मेघ जी से मार्गदर्शन लेता रहूँ। उस समय मुझे मेघ जी के लखनऊ के विकास नगर स्थित आवास पर भी जाने का अवसर मिला, जिसे उन्होंने दुर्लभ मूर्तियों, चित्रों आदि से सजाया था। उनकी सौंदर्य दृष्टि अद्भुत थी और सौंदर्यशास्त्र के पाश्चात्य सिद्धांतों को जिस प्रकार उन्होंने पढ़ाया, वह आज भी स्मृति पटल पर अंकित–टंकित है। उस समय वे देह भाषा पर वृहत्काय ग्रंथ लिख रहे थे। मैंने साहित्य को जो समझा, उसमें उनके गोस्वामी तुलसीदास, जयशंकर प्रसाद आदि की समीक्षा का काफी प्रभाव है। साक्षी हैं– सौन्दर्य प्राश्निक, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, तुलसी : आधुनिक वातायन से, कामायनी पर नई किताब, भाषा देह भाषा, वाग्मी हो लौ– जैसे ग्रंथ मैंने उस समय पूर्ण मनोयोग से पढ़े थे। आलोचक उन पर दुरूहता का आरोप लगाकर उन्हें आधुनिक काल का केशवदास बनाने पर उतारू रहे हैं, लेकिन यह भी सच है कि मौलिक प्राध्यापकीय समीक्षा के क्षेत्र में उनका दूर दूर तक कोई प्रतिद्वंदी नहीं है। यद्यपि उनकी कई स्थापनाओं से मेरी विमति रही है, तथापि मुझे यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं है कि उनके आज न होने से हिन्दी समीक्षा बेहद निर्धन हो गई है। अश्रुपूर्ण नयनों से गुरुवर को मेरी कृतज्ञ श्रद्धांजलि।

– डॉ. पुनीत विसारिया, झाँसी से।

(8)

महायात्रा पर मेघ जी का निकल जाना!

सन 1931 में जन्मे डॉ. रमेश कुंतल मेघ अब हमारे बीच नहीं रहे। 'न यश न धन, केवल एक मिशन' के संकल्प–पथ पर निरंतर अग्रसर मेघ जी अपने मिशन में दृढ़ हिंदी आलोचना साहित्य को अनेक बहुमूल्य पुस्तकें दी। उन्होंने आलोचना में अंतरानुशासन को विशेष महत्व दिया। समाज, संस्कृति और सौंदर्यबोध उनकी आलोचिंतना के मुख्य आधार हैं। उनके अचानक महाप्रयाण से हिंदी आलोचना जगत को अपूरणीय क्षति हुई है। 'पूर्वोत्तर साहित्य विमर्श संस्थान' की ओर से उन्हें शत–शत नमन एवं विनम्र श्रद्धांजलि।

– प्रो. हरेराम पाठक, दिल्ली से।

(9)

मेघ जी भी नहीं रहे!

वरिष्ठ साहित्यकार, आलोचक, समीक्षक रमेश कुंतल मेघ जी आज सुबह अपनी सांसारिक यात्रा पूरी करके अनन्त लोक को प्रस्थान कर गए। परिजनों ने उनकी इच्छा के अनुसार उनके शरीर को अस्पताल को डोनेट कर दिया, इसलिए अंतिम संस्कार नहीं होगा। साहित्य जगत को विभिन्न विधाओं में कई किताबें देने वाले मेघ जी को कई राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है। इनकी तल्ख और सटीक टिप्पणियों में इनके लेखन की सच्चाई झलकती थी।

सन् 1931 में जन्मे रमेश कुन्तल मेघ ने भौतिक–गणित–रसायन शास्त्र त्रयी में बी.एस.सी. (इलाहाबाद), फिर साहित्य में पीएच.डी. (बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी) की डिग्री हासिल की। बिहार यूनिवर्सिटी (आरा), पंजाब यूनिवर्सिटी (चंडीगढ़), गुरुनानकदेव यूनिवर्सिटी (अमृतसर), यूनिवर्सिटी ऑफ़ आरकंसास पाइनब्लक (अमेरिका) में अध्यापन किया। कार्ल मार्क्स के ध्यान–शिष्य, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अकिंचन शिष्य मेघ जी सौन्दर्यबोध शास्त्र, देहभाषा, मिथक आलेखकार, समाजवैज्ञानिक वैश्विक दृष्टिकोण के विनायक–अनुगामी, आलोचिन्तक रहे। 'विश्वमिथकसरित्सागर', 'मनखंजन किनके', 'काँपती लौ', 'आथतो सौन्दर्यजिज्ञासा', 'मिथक से आधुनिकता तक' आदि उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

इनकी पुस्तक 'विश्वमिथकसरित्सागर' के लिए 2017 में 'साहित्य अकादेमी पुरस्कार' से सम्मानित किये गए। हम सभी हिंदी प्रेमियों की ओर से इस सदी के महानायक मेघ जी को विनम्र श्रद्धांजलि।

सारा जगत इनके साहित्य के प्रति दिए योगदान को सदा याद रखेगा। शत–शत नमन।

– डॉ. राजकुमार, चंडीगढ़ से।

(10)

गुरु नानक देव विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को अंतरराष्ट्रीय धरातल पर प्रतिष्ठित करने वाले प्रोफेसर (डॉ.) रमेश कुंतल मेघ का अमर महाप्रयाण। हिन्दी संसार सदैव आपका ऋणी रहेगा। यह एक युग का अवसान है। विभाग दिव्य विभूति के परिवार के प्रति अपार संवेदना निवेदित करता है। विनम्र आदरांजलि!!

–डॉ. सुनील कुमार, पंजाब से।

(11)

'रमेश कुन्तल मेघ – मेरे गुरु' (अभी उनके निधन की दुःखद् सूचना मिली)

93 वर्षीय रमेश कुंतल मेघ मेरे अवचेतन पर व्याप्त हैं।

उनसे बहुत कुछ सीखा। अंतिम भेंट का संस्मरण।

उन्हें लोग कार्ल मार्क्स का ध्यान–शिष्य और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अकिंचन शिष्य मानते हैं। सौन्दर्यशास्त्र, देहभाषा, मिथक आलेखकार, समाजवैज्ञानिक तथा प्रखर आलोचक डॉ. रमेश कुन्तल मेघ का नाम भारतीय संस्कृति, साहित्य और उसके सौंदर्यशास्त्र को जानने के लिए एक जरुरी नाम हैं। उन दिनों वे पंचकुला, चंडीगढ़ में रहते हैं। 88 वर्ष की आयु में भी वे सक्रिय हैं। याददाश्त कम हुई है अलबत्ता आँखों की चमक वैसी ही है। मैंने उन्हें बताया कि मैं रामायण पर केंद्रित सेमीनार में भाग लेने चंडीगढ़ आ रहा हूँ। दो बार फोन कटने के बाद तीसरी बार बोले –कौन? मुझे याद नहीं आ रहा, तो मैं बहुत निराश हुआ। किंतु फिर हिम्मत करके चौथी बार में अपना परिचय फिर दिया। आपके साथ गोवा में था 2007 में। हम चर्च साथ गए थे। आपके साथ

दो लेक्चर में था। आपसे हैदराबाद, चैन्नई और दिल्ली में तब तब मिला.....। वे पहचान ही गए। इतना पीछे पड़ने वाले को पहचानना ही पड़ता है।

चंडीगढ़ के कार्यक्रम में वे आमंत्रित नहीं थे। रामायण में प्रगतिवाद के प्रयोग से डरते हुए आयोजकों ने उन्हें नहीं बुलाया होगा। लेकिन वे आ गए। मुझे लगा मुझसे मिलने ही आए हैं। मुझे देखा तो बोले –अरे तुम ! आने की खबर तो दी होती। और कैसे हो ? कुछ लिख पढ़ रहे हो ? मेरी बात भीड़ में दब गई , रायते पूड़ी के चक्कर में। फिर बाद में टुकडों–टुकड़ों में उनसे बात हुई। भारतीय मिथकों की कारीगरी के वे बादशाह हैं। सौंदर्यशास्त्र के उनके बोर करने वाले व्याख्यानों को मैं दुबारा–तिबारा समझा करता था। उन्हें सुन–पढ़कर मैंने मिथकों के रहस्य को समझने का यत्न किया है। उन्हीं से विषय को खोदने की कला समझी। मिथकों को डिकोड करना भी। तुलसी वातायन लिखकर वे मेरे फेवरेट बन गए। मैंने अपनी रामायण रुचि का बताया तो उन्होंने मेरी पीठ पर हाथ रखा। डीलिट के समय उर्वशी और पुरुरवा के मिथकों पर काम करते वे अक्सर मेरे कान में मानो, फुसफुसा जाते थे। उनका स्मरण बना रहता है।

–डॉ. राजेश श्रीवास्तव, भोपाल से।

(12)

मेघ जी की स्मृति में... श्रद्धांजलि।

मिथक और गल्प के बीच मेघ जी।

आज 92 वर्ष की अवस्था में रमेश कुंतल मेघ जी का निधन हो गया। उनके निधन की ख़बर ने हिंदी समाज में एक खालीपन पसर गया है। प्रश्न यह है कि उनके जीते–जी उन्हें क्यों बिसरा दिया गया। सैद्धांतिक समीक्षा व सौंदर्यशास्त्र जैसे गूढ़ विषय के आप एकांतिक साधक थे। 'विश्व मिथक सरित्सागर' जैसे उनकी साधना का निचोड़ रहा हो। मिथक से शुरू हुआ उनका कार्य जैसे विश्व मिथक में ही समाहित हो सकता था।

हिंदी आलोचना में मेघ जी अप्रतिम थे। सर्वाधिक मौलिक आलोचकों में से एक। समस्या यह कि हिंदी समाज जब किसी का मूल्यांकन नहीं कर पाता तो उसकी खिल्ली उड़ाने लगता है। हिंदी समाज में मेघ जी के ही गुरु आचार्य द्विवेदी की उक्ति इतनी प्रचारित कर दी गयी कि मानो मेघ जी की एकमात्र उपलब्धि 'कठिन' शब्द लिखना रहा हो। यह कितना हास्यास्पद है। मैंने अक्सर हिंदी प्राध्यापकों को मेघ जी पर हँसते हुए पाया है। जो लोग मेघ जी के लिखे को समझ भी नहीं पाते, वे भी मेघ जी पर हँसते हुए देखे जाते हैं। यह कैसी आयरनी है?

मेघ जी ने हिंदी आलोचना में नए प्रयोग किये। विज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र, सामाजिक विज्ञान, कामशास्त्र, वास्तुशास्त्र, चित्रकला, दर्शन... जैसे अनेक अनुशासनों को मिलाकर उन्होंने अपनी आलोचना पद्धति विकसित की। इस पद्धति को न समझ पाने के कारण मेघ जी उपहास्य के पात्र बना दिये गए। जो लोग आलोचना में नएपन के हिमायती रहे हैं, उनकी दृष्टि में मेघ जी हिंदी के सर्वाधिक प्रायोगिक आलोचक हैं। लेकिन जो लोग बनी–बनाई लकीर से सत्य खोजना चाहते हैं, उन्हें मेघ जी दुरूह लगे। हम अपनी कमियों को दूसरे पर मढ़कर अपने को सुविधा में पाते हैं।

मेघ जी के बहाने इस प्रश्न पर भी विचार किया जाना चाहिए कि वर्तमान बोध से इतर की सैद्धांतिक आलोचनाएं अवमूल्यित क्यों हुईं? नामवर सरीखे आलोचक तब सैद्धांतिक आलोचना को एक सिरे से नकारने की भूल करें तो हिंदी आलोचकों की मनोदशा समझी जा सकती है। आज नामवर सिंह की आलोचना निष्प्रभ होती जा रही हैं। तब मेघ जी को नए सिरे से पढ़ने की पहल आवश्यक है।

मेघ जी का लेखन क्षेत्र व्यापक है। उनकी पुस्तकें देखें तो हम पाएंगे कि भारतीय काव्यशास्त्र से लेकर पश्चिमी सौंदर्यशास्त्र तक आपकी दृष्टि फैली हुई है। साक्षी हैं– सौंदर्य प्राश्निक, अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, वाग्मी हो लौ, रस दर्शन और सौंदर्यबोध, सौंदर्यमूल्य और मूल्यांकन, मन खंजन किनके?, मिथक और स्वप्न, आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण, क्योंकि समय एक शब्द है, कलाशास्त्र और मध्ययुगीन भाषिकी क्रांतियाँ, तुलसी : आधुनिक वातायन से तथा विश्व मिथक सरित्सागर जैसी कृतियाँ मेघ जी की शाश्वत निधियाँ हैं। इनमें से ज़्यादातर कृतियाँ मेरे मन–मस्तिष्क को आलोड़ित करती रही हैं। सौंदर्यशास्त्र पर आप हिंदी के अकेले शास्ता थे।

मेघ जी से मेरे व्यक्तिगत संबंध न थे। न तो कोई मुलाकात और न कोई बातचीत। लेकिन उनकी कृतियों के माध्यम से मैं अक्सर उनसे संवाद करता रहा। एक लेखक से आत्मीयता के लिए जरूरी नहीं कि हम उससे रोज़ मिला करें। एक लेखक और पाठक के रिश्ते भी आत्मीय बनते हैं।

बड़ी चीजों के लिए साधना करनी पड़ती है। वर्तमानबोध जरूरी है। किंतु हर आलोचक एक ही राह पर चले, यह आवश्यक तो नहीं। मिथक और सौंदर्य की राह पर मेघ जी निरंतर अकेले होते चले गए। गूढ़ विषयों की साधना अकेले ही करनी पड़ती है। मेघ जी सौंदर्य को आजीवन साधते रहे। इस क्रम में वे मिथक बनते चले गए। मिथक में सत्य और गल्प का संयुक्त समवाय होता है। मेघ जी सत्य के शोधन में गल्प बनते चले गए। यह ट्रैजिक बोध मेघ जी का है या हिंदी आलोचना का? यह विचारणीय है।

– डॉ. शशांक शुक्ल, हल्द्वानी से।

(13)

प्रोफेसर रमेश कुंतल मेघ...

1. धवल केश वाले लंबे तगड़े हॉलीवुड इफेक्ट लिए एक प्रोफेसर जो लखनऊ विश्विद्यालय के घोर दक्षिणपंथी शिक्षक कुनबे में बतौर विजिटिंग प्रोफेसर आए थे।
2. एक दिन अपनत्व और समझाने की मुद्रा में मुझसे कहते हैं कि तुम्हारे हेड डॉ. सूर्य प्रसाद दीक्षित और एक तिवारी जी की शिकायत है कि पूरा विभाग सामने पड़ने पर लपक पर पांव छूता है पर ये आपका दीपक कभी पैर नहीं छूता। मगर आकर सबके बीच हंस हंस के बात करता है, थोड़ा उसे समझा दीजिए कि अकेले में न छुए, कम्युनिस्ट है। कोई बात नहीं ,मगर अन्य छात्रों के बीच या तो न आए या आए तो थोड़ा ध्यान रखे,ऐसे सब पर गलत प्रभाव पड़ता है, फिर मुस्कुराकर, यार छू लिया करो... या अवॉइड कर लिया करो... क्या जाता है.., बड़ी लड़ाइयों पर फोकस करो..।
3. उनका शानदार घर, जो किसी आर्ट म्यूजियम की तरह लगता था, विकास नगर की मेन रोड पर..., फिर एक दिन उनका फोन आया कि बेच कर वापस जाना है, लखनऊ बड़े मन से आया था पर लोगों ने अपनाया नहीं, किसी के पास मिलने जुलने का वक्त ही नहीं...। मेरे अग्रज साथी अवधेश मिश्रा उनके प्रति बहुत स्नेह रखते थे। डिस्कस करते रहे इतना अच्छा घर है। कोई अपना ले भी नहीं सकता। जाने कौन लेगा और इतनी कलात्मकता से भरा घर नष्ट हो जाएगा। जहां तक याद है उस वक्त वो घर सिर्फ 13 लाख का था..
4. अवधेश मिश्रा, जिनकी 1 या 2 जुलाई को गोंडा में हुई शादी में एक अजीब घटना हुई रमेश कुंतल मेघ जी के साथ, मगर इस स्नेहिल प्रोफेसर ने कितनी मैच्योरिटी के साथ वो सब हैंडल किया कि बरसों बरस जब मैं और अवधेश भाई उस घटना को याद करते तो उनके प्रति श्रद्धा से भर जाते।
5. मेरे पास एक पेपर सौंदर्यशास्त्र (पोएटिक्स या एस्थेटिक्स) का भी था, छात्र नेता होने की वजह से क्लास तो कभी जाना नहीं हो पाता था। उस पर दिसंबर आखिर में एक लंबी जेल अलग हो गई, जेल में शायद अवधेश भाई और सर्वेश भाई मिलने आए या सनत भाई, पर पहल के ताज़ा अंक के साथ इम्तहान की तैयारी के लिए "सौंदर्यशास्त्र" पर एक किताब दे गए। जेल से निकलने के कुछ हफ्तों में जब मैं प्रोफेसर रमेश कुंतल मेघ से मिला। तो वो बोले.. इस सौन्दर्य शास्त्र के पेपर में तुम अकेले छात्र हो और मैं अकेला शिक्षक, ज़ाहिर है तुमने मेरी एक भी क्लास पढ़ी नहीं.., तुम मेरे प्रिय हो.. अब या तो तुम्हे मैं पढ़ाऊं.., फिर तुम्हारे अकेले के लिए पेपर बनाऊं..., और इतना ईमानदार भी बना रहूँ कि पढ़ाने और पेपर के बीच अनजाने ही कोई बेइमानी भी स्थापित हो.. या तुम कोई दूसरा पेपर ले लो..और उसमे भी मैं तुम्हारी मदद कर दूं.., फिर हंसे, क्यों बेकार मुझसे पेपर बनवाने की मेहनत करवाओगे।
6. मुझे पता चला कि पंजाब में उन पर खतरा था, बतौर मार्क्सवादी वो उस वक्त आतंकवादियों के निशाने पर थे.. पंजाब खालिस्तानी आतंकवादियों की गिरफ्त में था.., शायद कुछ हमले भी हुए थे.. बहुत याद नहीं पर उन्होंने भी कई बातें बताई थी, बहरहाल उनको देखता तो इन घटनाओं की पृष्ठभूमि में रोमांचित फील करता।
7. एक दिन हिंदुस्तान अखबार का साहित्यिक पेज पढ़ते हुए मेरे प्रबुद्ध और ट्रेड यूनियन लीडर चाचा ने मुझसे कहा..ये रमेश कुंतल मेघ कौन लेखक है.. कई हफ्तों से इनका लेख पढ़ने की कोशिश करता हूं..

मगर कुछ समझ ही में नहीं आता.. ऐसी हिंदी तो दिमाग चकरा देती है, ये कहना क्या चाहते हैं। मैंने मुस्कुराकर मेघ जी के बारे में बताया..उनकी गूढता की वजहों के बारे में, और कहा.. आपको किसी दिन आमने सामने मिलवाऊंगा, बहुत प्यारे व्यक्ति हैं।

8. मेरी शादी कोर्ट में हुई थी, फिर साथियों और कॉमरेड्स के साथ एक रिसेप्शन, मेघ जी आए, खुश थे.. अगले दिन सुबह से तालिबान के खिलाफ बड़ा प्रदर्शन था। मैं और वीना उसी में व्यस्त, शाम को जब घर पहुँचा तो पता चला मेघ जी का दो बार फोन आया था, जब तक समझता फिर फोन आ गया.., मैंने प्रदर्शन का बताया..., मगर उनके फोन की वजह कुछ और थी.. बोले इतना अच्छा था तुम्हारे रिसेप्शन पर...सब मिले। पर बहुत भव्य लग रहा था.. कोमरेड्स की शादी तो बस ऐसे ही हो जाती हैं, ये क्यूं किया.., फिर मैंने कहा कि भव्य नहीं जुगाड था.. जगह लगभग निशुल्क, सारा इंतज़ाम जुगाड से.., पता नहीं कनविंस हुए या नहीं...पर कहा कि घर आना, ज़ीरो से शुरू कर रहे हो.. कुछ चीजें हैं मेरे पास.. चाहो तो ले जाना..
9. मुझे एक बात से ताज्जुब रहता था और थोड़ी शिकायत भी, कि घोषित मार्क्सवादी होते हुए भी वो दक्षिण पंथी शिक्षकों से कैसे निबाह लेते थे, यहीं नहीं उनसे पर्याप्त सम्मान भी पाते रहे।
10. MA second year वालों को फेयरवेल दे रहे थे– फर्स्ट इयर वाले। बहुत इत्तेफ़ाक से यूनिवर्सिटी में मेरी पहली प्रेमिका बनी थी..,बाद में पता चला मुझसे सीनियर थी वो.., मैं फिलोसोफी डिपार्टमेंट का छात्र था, पर उसके चक्कर में फिलोसोफी छोड़ हिंदी में एडमिशन ले लिया। मेरे अब इधर आने जाने के कारण 23 मार्च को भगत सिंह वाले जुलूस पर हुए पुलिस हमले और गिरफ्तारी के बाद एक शहीद–वेदी हिंदी डिपरमेंट में ही रखवा दी गई थी। मैं ज्यादा रुचि तो इन कार्यक्रमों में ले नहीं पाता था पर मेरी प्रेमिका का विदाई समारोह था..

कार्यक्रम दक्षिणपंथी शिक्षकों के निर्देशन में होता था.. मुझे उस ढांचे को तोड़ना था, मैने मेघ जी को बता दिया इस बार देखिए क्या होगा.. वो थोड़े सशंकित थे, समझा भी रहे थे.., मैंने हेड से कहा कि हम कार्यक्रम के पहले अपने देश के शहीदों को भी याद करेंगे..भाषा कुछ ऐसी थी कि वो मना नहीं कर पाए। या शायद सरस्वती मूर्ति के अनावरण की बात थी जो परंपरा थी। दूसरा शिक्षकों और छात्रों को सम्मान में टाइटिल दिए जाते हैं..मैंने कहा 2 लोगों के टाइटिल मैं लिखूंगा..और फर्स्ट इयर की तरफ से सेकंड इयर के लिए मैसेज भी मैं दूंगा। जब कैंटीन वगैरह से निपट कर हाल में पहुंचा तो सब तैयारियां हो चुकीं थीं, दो तीन लड़कियाँ एक प्लेट में नाश्ता लगा रहीं थी मगर उसमे चार पीस आ नहीं रहे थे, मैंने कहा एक समोसा कम कर दो तो लड़कियों ने ऐसे देखा जैसे कुफ्र कर दिया..,प्लेट में अगर तीन चीजें दी गईं तो अपशगुन होगा.. पांडे जी मार ही डालेंगे। मैंने कहा.. तुम लोग जाओ.. एंजॉय करो, हम ये कर देते हैं.. पहले तो सब चीजों को जानबूझ कर तीन किया गया।

फिर जब उद्घघाटन हुआ तो मैंने जानकर हेड के साथ रमेश कुंतल मेघ को कपड़ा हटाने के लिए आमंत्रित किया, अंदर सरवती प्रतिमा की बजाय वही शहीद वेदी थी, जिस पर खून जैसे टपके हुए धारे थे और लिखा हुआ था "अमर शहीदों को लाल सलाम"... मेघ जी ने संक्षिप्त भाषण दिया.. वो समझ गए खेल हो चुका है.. नाश्ते की प्लेट आईं तीन तीन सामग्री वाली.. लड़कियाँ मुझे घूरते हुए बाँट रहीं थी और मैं पाण्डेय जी को देखते हुए मुस्कुरा रहा था।

सेकेंडियर को मैसेज देते हुए मैंने आज़ादी, प्रगतिशीलता जैसे कुछ लफ्जों का प्रयोग करते हुए साहिर की नज़्म का एक हिस्सा थोड़ा तर्जुमा करते हुए पढ़ा..

"कौन कहता है कि आहें हैं मुसीबत का इलाज
जान को अपने अबस रोग लगाती क्यों हो,
एक सरकश से मुहब्बत की तमन्ना करके..
खुद को जुल्मों (असल शब्द आइन) के फंदों में फंसाती क्यों हो,
तुम में हिम्मत है तो दुनिया से बगावत कर लो..
वरना मां बाप जहां कहते हैं, शादी कर लो ...

(ये अलग बात है, उसने मां बाप जहां कहते थे शादी कर ली, अच्छा किया)....

और फिर सारे टीचर्स के बाद फिर मैं माइक पर गया...

अब तक विभाग का परंपरागत इतिहास सकते में था...
मैंने पर्ची पर लिखा नाम पुकारा..
प्रोफेसर रमेश कुंतल मेघ" के लिए...
"ओ मालिक, नेता धर्मगुरु..
इस ताकत से हो रू–ब–रू..
जो सुलग रही चिंगारी है... वो पहचान हमारी है..
तुम चुप बैठो,लाचारी है... ये लाल कारवां जारी है..

और ये कहते हुए उस पूरे विभाग में उस लाल कारवें के प्रतीक रमेश कुंतल मेघ के सम्मान में मुठ्ठी तान कर सैल्यूट कर दिया...

जाने क्लास को इन सब पॉलिटिकल जुमलेबाजी का मतलब कुछ समझ में आ रहा था या नहीं मगर अदा कुछ ऐसी थी कि पूरा क्लास मेघ जी के लिए सम्मान में खड़ा होकर तालियां बजाने लगा...

दो दिन बाद मैने मेघ जी से पूछा, अंदर का क्या रिएक्शन था..

वो मुस्कुराए, बोले सब ठीक है, बस लोगों को तुम्हारी हरकतों में मेरी साजिश नज़र आ रही थी, हँसे... बोले पढ़ाई पर ध्यान दो, वामपंथियों को पढ़ाई में सबसे आगे रहना होता है...

फिर मेघ जी मुझसे गुम होते चले गए..

छूटते चले गए... लखनऊ भी उनसे छूट गया...

बीच में कई बार उनकी याद आती, डर लगता अभी जीवित हैं या नहीं, अवधेश भाई या कोई और बताता... अभी हैं, प्लान बनता, उन्हें फोन किया जाय, मिला जाय, मिलने चला जाय या बुलाया जाए...

मगर ये सब फकत बातें थीं...

हम कमजर्फ थे... एक फोन नहीं कर पाए...

जितनी बार जिक्र होता.. बस एक सुकून रहता,

अभी वक्त है... वो जीवित हैं स्वस्थ हैं...

आज वो स्मार्ट, बलिष्ठ, हैंड स्टिक थामे धवल चोटी रखने वाला अमेरिकन प्रोफेसर जैसा माडर्न, जो ऐसी हिंदी लिखता था कि लोग पूछते थे कि इसको हिंदी में कोई कर सकता है...

भारी आवाज़ में भोले कौतुक के साथ एक नौसिखिया उद्दंड छात्र से भी अपनत्व और बराबरी के संवाद करने वाला..

वो लाल कारवाँ... ठहर गया

वो जिसकी चमकती आंखों और अद्भुत व्याख्याओं से आप हर कविता, हर आर्ट पीस को देखने की कमाल की सौंदर्य दृष्टि पा सकते थे... दुनिया थोड़ी खूबसूरत हो सकती थी..

(अवधेश भाई के पास मुझसे कई गुना ज्यादा किस्से होंगे)

– दीपक कबीर, लखनऊ से।

(14)

एक बनारसी 'मेघ' का चुपचाप गुजर जाना!

क्योंकि समय एक शब्द है!

मेघ जी चले गए। यूँ वे वर्षों से गए हुए ही गुजरे क्योंकि वे साहित्य के सत्ता केंद्र से बहुत दूर चंडीगढ़ में वर्षों से रह रहे थे। अपनी जटिल भाषाई संरचना और बद्ध मार्क्सवादी जीवन शैली के कारण उन्हें न अपने समकालीनों का सहयोग प्राप्त हुआ न ही नई पीढ़ी का सम्मान। समय बदला। संदर्भ बदला। नहीं बदले तो मेघ जी क्योंकि उनके यहाँ– समय एक शब्द था जिसकी आवाज खुद ही वे अनसुनी कर रहे थे!

बातचीत में सहज रहते लेकिन परीक्षा वे मार्क्सवाद की करते। यहाँ अवसरवाद के लिए कोई जगह नहीं थी। यही कारण था कि हिंदी समय एवं समाज में जैसे–जैसे अवसरवाद बढ़ता गया वे हासिये पर होते गए। वस्तु उनके लिए मूल्यवान थी लेकिन शिल्प के सौन्दर्यबोध को भी समझते रहे। यूं रूप का विधान ही वह प्रमुख बिंदु था जिसको पकड़कर नामवर जी चमकते गए और मेघ जी की धार धूमिल पड़ती गई। जाहिर सी बात है गुरुभाइयों के बीच के तनाव में नुकसान मेघ जी का ही हुआ और यह वाक्य भी गुरुमुख से इसी सन्दर्भ में

काशी के शिष्यों द्वारा प्रचारित किया गया– 'मेघ जी की भाषा को समझने के लिए अलग से एक भाष्य लिखना होगा'!

मेघ जी इलाहाबाद से स्नातक व परास्नातक के बाद शोध के लिए काशी आये। इस रूप में बनारस से पढ़े लिखे थे। बीएचयू के हिंदी विभाग से आचार्य द्विवेदी के निर्देशन में शोध किया–विषय था– 'मिथक और स्वप्न : कामायनी की मनससौंदर्य सामाजिक भूमिका', जो 1967 में कानपुर से प्रकाशित हुई। यहाँ से वे आरा गए। फिर जालंधर और अमृतसर। आचार्य जब काशी से निर्वासित होकर चण्डीगढ़ पहुँचे तब इन शिष्यों ने ही उन्हें संभाला। इस रूप में वे रामदरश मिश्र, विश्वनाथ त्रिपाठी, नामवर सिंह के गुरु भाई थे लेकिन अपनी भाषा प्रयोग में एक दम अलग। उन्हें 2017 में 'विश्व मिथक सरित्सागर' के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार भी मिला लेकिन यह भी उनके सामाजिक विस्तार में कुछ खास जोड़ नहीं पाई। 1967 में बनारस के ज्ञानपीठ से प्रकाशित उनकी पुस्तक 'तुलसी : आधुनिक वातायन से" उन्हें काफी चर्चा मिली लेकिन उनका ज्यादेतर लेखन मिथक आधारित रहा और सैद्धान्तिक भी। धीरे धीरे समकालीन सर्जनात्मक संसार से वे दूर होते गए।

मुझे उनका स्नेह मिलता रहा यद्यपि 1996 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिंदी साक्षात्कार में विशेष 'कृपा' के कारण वे चाहकर भी मेरी नियुक्ति नहीं कर पाए क्योंकि : समय एक शब्द वहां भी बन गया! रातों रात 'ब्राह्मण सीट' बदल दी गई! उसका अफसोस उन्हें हमेशा रहा और उसके कुछ महीने बाद ही मैं और हिंदी विभाग में अभी अभी नियुक्त प्रिय सूर्य नारायण जब उनके लखनऊ स्थिति आवास पर मिले तो उन्होंने अफसोस तो जाहिर किया ही, आश्वासन भी दिया कि आगे जब कभी अवसर आएगा, वे मेरे साथ होंगे। लेकिन समय कहाँ दुबारा अवसर देता है लेकिन जब 2005 में मेरी नियुक्ति बीएचयू के हिंदी विभाग मे हुई तो सबसे पहले उन्हीं का फोन आया। आशीष भी दुर्लभ किस्म का था– 'बधाई श्रीप्रकाश। आज से नामवर को माफ किया!' ध्यातव्य है कि मेरी नियुक्ति में विषय विशेषज्ञ नामवर जी ही थे और चयनित लोगों में पहली संस्तुति उन्होंने मेरे ही नाम की– की थी। यह सब भी मेघ जी को मुझसे पहले पता चल चुका था और वे परम प्रसन्न थे।

स्पष्ट है कि उन्हें यह जानकर खुशी हुई कि जो काम वे कुछ गुरुजनों के दबाव में इलाहाबाद में नहीं कर पाए उसे नामवर जी ने बनारस में कर दिया।

इसके बाद भी बीच बीच में उनका फोन आता रहा। पिछली साल भी उन्होंने फोन किया और हालचल के बाद थोड़ी तल्खी से कहा– 'अब तुम बड़े आदमी हो गए हो। बात भी नहीं करते।'

मैं कुछ कहता कि उसके पहले ही फोन काट दिए। अब कैसे कहता कि– समय एक शब्द है !

मेघ जी एक प्रतिभाशाली लेखक थे लेकिन समय के साथ वे चल नहीं पाए। भाषा प्रयोग को लेकर भी वे बदलना नहीं चाह रहे थे यद्यपि जटिलता का आरोप उन पर हमेशा ही रहा। मिथकों के अनसुलझे संसार में उलझने के कारण खुद ही एक जिंदा मिथक हो गए थे! उनकी यात्रा में यूँ काशी, आरा, कानपुर, लखनऊ, जालंधर और अमृतसर जैसे शहर रहे लेकिन इनमें से वे किसी शहर के भूगोल से जुड़ नहीं पाये। भूगोल उनका बदलता रहा और यही कारण था कि वे मिथकों के भाषा समुद्र में गहरे उतरते गए! संभव है बदलते भूगोल की यही नियति होती हो!

आज वे 92 वर्ष (1931–2023) की अवस्था प्राप्त करने के पश्चात हमारे बीच नहीं हैं। यह कोई अफसोस कि बात नहीं है। अफसोस है तो इस बात का कि एक बड़ी प्रतिभा लंबे समय से गुमनामी का दंश झेलती हुई विदा हो गई। आखिर प्रासंगिकता का वह कौन सा आधार होता है जिसमें एक लेखक अंतिम समय तक चर्चा में रहता है जबकि दूसरा मृत्यु के बाद कुछ इस तरह याद किया जाता है– अभी जिंदा थे क्या!!!!

बात जो भी हो। मेघ जी हमारी स्मृति में हमेशा रहेंगे। कभी 'मानव देह और हमारी भाषा' के लेखक के रूप में तो कभी 'अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा' के रचनाकार के रूप में।

बीएचयू की उनकी मूल ज्ञानभूमि से हमारा अंतिम प्रणाम।

–प्रो. श्रीप्रकाश शुक्ल, वाराणसी से।

ꕥ★ꕥ

पत्रिका में शोध-लेख प्रकाशन की अनिवार्य शर्तें

1. आपके द्वारा प्रेषित शोध–लेख मौलिक, स्तरीय, प्रकाशन के योग्य एवं अप्रकाशित हो, तथा आपके द्वारा **आलोचन दृष्टि** द्वारा जारी किया गया **लेखक का घोषणा–पत्र** फार्म अवश्य भरा होना चाहिए।
2. अपने शोध–लेख (हिन्दी व संस्कृत के Kruti Dev 10 में और अंग्रेजी के Times New Roman Font में) की वर्ड एवं पी.डी.एफ. फाइल बनाकर सी.डी. या डी.वी.डी. में हार्ड कॉपी के साथ **आलोचन दृष्टि, कार्यालय** के पते में प्रेषित करें। आपको यदि अपने शोध–लेख का **स्वीकृत पत्र** चाहिए तो एक लिफाफे में अपना नाम, पता पिन कोड सहित लिखकर, आवश्यक स्पीड पोस्ट की डाक टिकट लगाकर भेजें और 3–4 महीने तक अनावश्यक कोई कॉल किसी भी **आलोचन दृष्टि** के प्राधिकारी से न करें। यदि किसी पदाधिकारी से बात करने की जरूरत पड़े तो शाम 6.00–8.00 के बीच संपर्क करें।
3. **शोध–लेख/आलेख में मोबाइल नंबर, ई–मेल एवं पता अंकित होना चाहिए।**
4. शोध–लेख/आलेख की जांच **संपादक मंडल** एवं **आलोचन–दृष्टि–परिवार** के द्वारा की जाएगी उसके उपरांत ही शोध–लेखों/आलेखों को प्रकाशित किया जायेगा, जिसमें **संपादक मंडल** का **निर्णय** अंतिम और सर्वमान्य रहेगा।
5. शोध लेख **यूजीसी** के मानक के अनुरूप होने चाहिए और **संदर्भ–सूची** में पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशन का नाम, संस्करण–वर्ष एवं पृष्ठ संख्या तथा पत्रिका के संदर्भ हेतु, उसका अंक, वर्ष, पृष्ठ संख्या आदि– निश्चित रूप से अंकित होने चाहिए। ऐसा न होने पर लेख की **संदर्भ–सूची** को भ्रामक माना जाएगा।
6. पत्रिका के प्रकाशन हेतु लेखकों, पाठकों एवं आलोचकों से सदस्यता भी अपेक्षित रह सकती है, क्योंकि पत्रिका को कोई अनुदान या अंशदान नहीं प्राप्त हो रहा।
7. पत्रिका में सर्वेक्षणात्मक की अपेक्षा वैचारिक शोध–लेखों/आलेखों को वरीयता प्रदान की जायेगी।

Essential conditions for publication of research articles in the journal

1. The research article sent by you should be original, quality, worthy of publication and unpublished, and the **Author's Declaration Form** issued by **Aalochan Drishti** must be filled.
2. To send CD or DVD of your research articles Word & PDF File, with hard copy (Hindi & Sanskrit in **Kruti Dev 10 Font** and English in **Times New Roman Font**) at the address of **Aalochan Drishti**. If you want the Acceptation Letter of your dissertation/article, then write your name, address with pin code in an envelope, to affixing required speed post postage stamp and No unnecessary call for 3-4 months from any officer/ Member of Aalochan Drshiti. If there is a need to talk to any Officer/Member, then contact between 6.00-8.00 in the evening.
3. Mobile number, e-mail and address should be mentioned in the research paper/article.
4. The research-articles will be examined by the **Editorial Board** and **Aalochan Drishti -Family**, only after that the research articles/articles will be published, in which the decision of the **Editorial Board** will be final and binding.
5. Research articles should be as per **UGC standard** and in the **Bibliography** the name of the book, the name of the author, the name of the publication, the edition-year and page number and for the reference of the journal, its issue, year, page number etc.- fixed must be clearly marked. Otherwise, the **Bibliography** of the article will be considered misleading.
6. Subscription may also be required from writers, readers and critics for the publication of the magazine, because the magazine is not receiving any grant or contribution.
7. Preference will be given to conceptual research articles/articles in the journal rather than survey.

आलोचन दृष्टि
आजाद नगर, बिन्दकी, जनपद–फतेहपुर,
उ0प्र0–212635
ई–मेल : **aalochan.p@gmail.com**